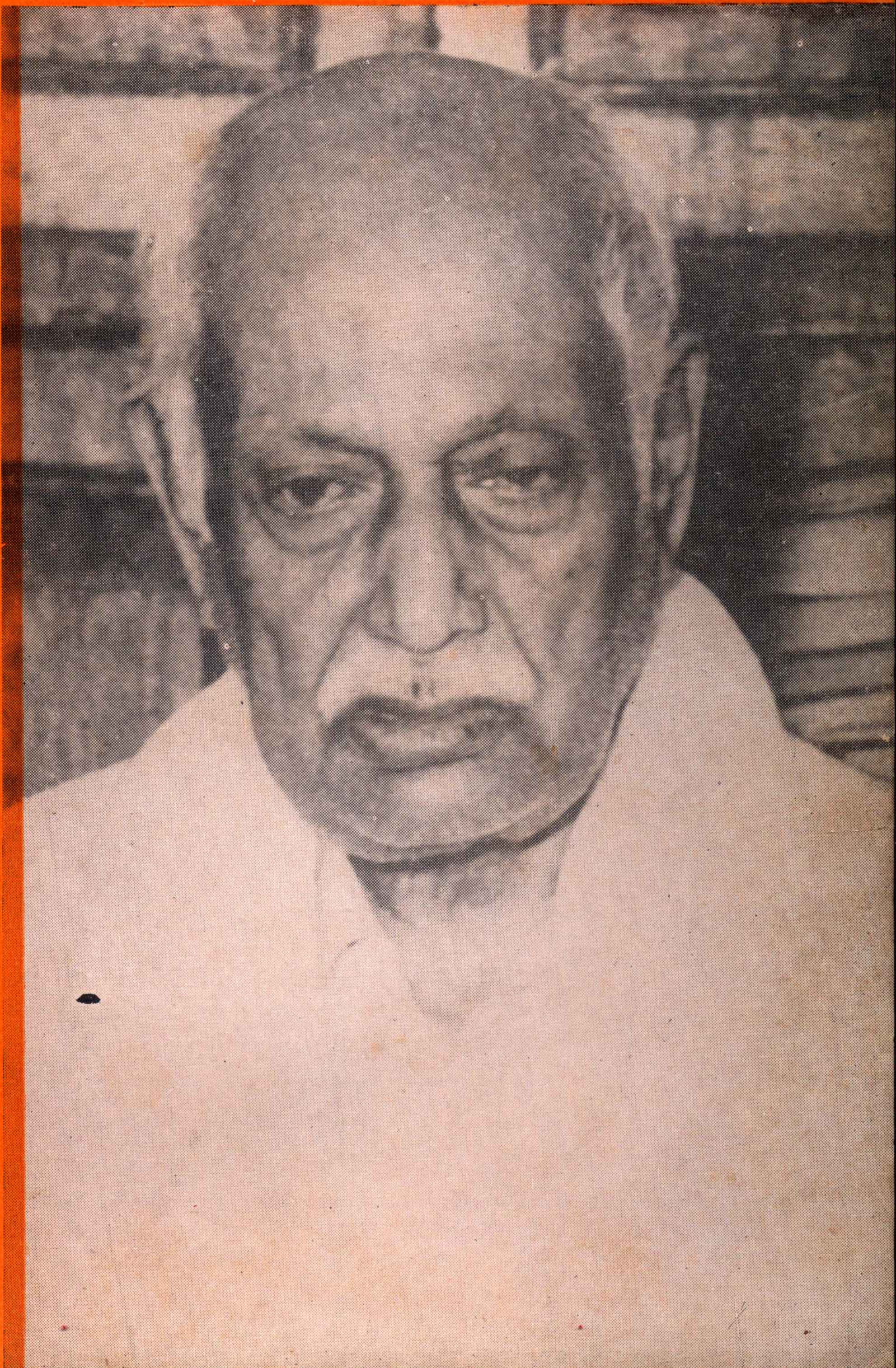
महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ जी कविराज
आविर्भाव शताब्दी महोत्सव

स्मारिका 1986



॥ ॐ माँ ॥

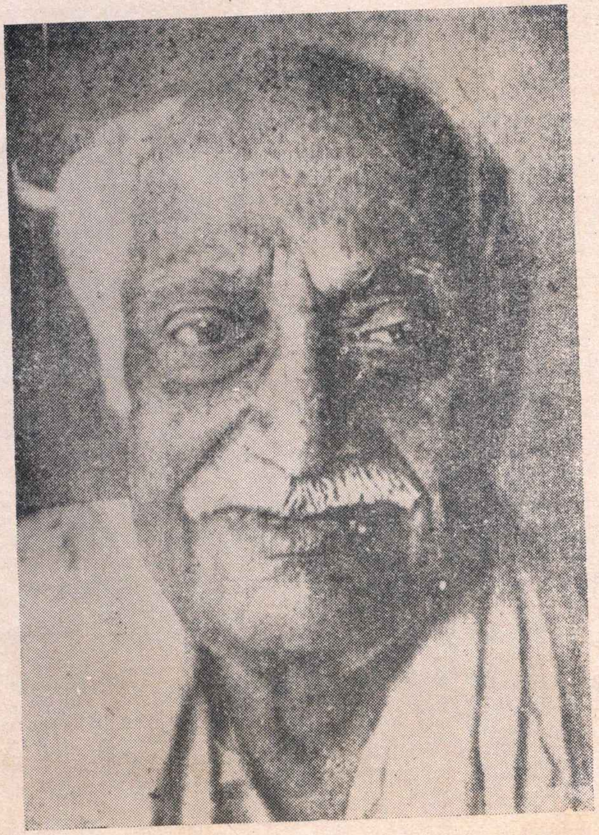
महातन्त्रयोगी डा० गोपीनाथ जी कविराज 'पद्मविभूषण'

के

आविर्भाव शताब्दी महोत्सव

की पुनीत वेला में

सभक्ति पुष्पांजलि



तुम हिमगिरि की उत्तुंग शृंग, मैं भू शतदल का कीट भृंग,
तुम मणि मण्डित सी कनक काय, कैसे पद पूँजू क्या उपाय ?

तुम माँ वीणा के वरद पुत्र, तुम शक्ति समन्वित शिव स्वरूप,
तुम कालजयी, तुम वीतराग, तुम पुंजीभूत प्रकाश काय।

निगमागम तन्त्रों के प्रतीक, स्वातंत्र्य शक्ति हो या विमर्श,
तुम घनीभूत ऊर्जा स्वरूप, स्पन्द और स्फुरण काय।

अखण्ड महायोग संस्थान के तत्वावधान में

महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज

आविर्भाव शताब्दी महोत्सव

७ सितम्बर १९८६ से ७ सितम्बर १९८७ तक

स्मारिका '८६

सम्पादक :

श्रीनारायण मिश्र

प्रबन्ध सम्पादक :

रमेश चन्द्र अवस्थी

- प्रकाशक :
  अखण्ड महायोग संस्थान
  ४-ए, बालमीकी मार्ग, लालबाग, लखनऊ

- मुद्रक :
  सब्बरबाल प्रिंटिंग प्रेस
  न्यू मार्केट, कैसरबाग, लखनऊ

- स्मारिका अनुदान :
  दस रुपये

अनुक्रम

English Section

—:o:—

सम्पादकीय

महातन्त्रयोगी डा० गोपीनाथजी कविराज 'पद्मविभूषण' के आविर्भाव शताब्दी महोत्सव के पावन पर्व पर उनके मानसपुत्र योगिराज दादा सीताराम जी की वरद छत्र छाया में अखण्ड महायोग संस्थान द्वारा इस 'स्मारिका' का प्रकाशन उसके लिए अत्यन्त गौरव का विषय है। अतुलनीय प्रतिभा, अनुपम विवेकजज्ञान तथा सर्वतोमुखी दृष्टि सम्पन्न पूज्य श्री कविराजजी का व्यक्तित्व किस सीमाहीन वैशिष्ट्य से संश्लिष्ट था, इस तथ्य को जानना दुरुह ही नहीं, असम्भव सा है। वे कपिल और कणाद की शृंखला के मनीषी तो थे ही, उनमें पाश्चात्य और पौर्वात्य का अभिनव समन्वय भी था।

अपने विषय में वे कहा करते थे-- 'मेरा जीवन महाशक्ति की एक लीला है।' ज्ञान के महासागरीय गाम्भीर्य से उद्बुद्ध एक ओर जहां यह विराट पुरुष व्यासदेव के व्यक्तित्व की प्रतिच्छबि की झलक देता था, वहीं दूसरी ओर प्रकट रूप में बालभाव में उनकी स्थिति देखने वाले को एक गम्भीर रहस्य में धकेल देती थी। निष्प्रयोजन बात न कहना, केवल ज्ञानचर्चा हेतु बहिर्मुख होना तथा अधिकांश चेतना को अन्तस्थलीन किए रहना, यही उनका स्वभाव था। श्री कविराज जी मूलरूप में आगमविद् शाम्भव पुरुष थे। आगमों में वर्णित 'संवित', 'चिति', 'पूर्णाहन्ता', 'विश्वात्मक' तथा 'विश्वातीत' और 'पूर्ण स्वातन्त्र्य' इन सब तत्वों की बोधगम्य व्याख्या प्रथम बार उनके ग्रन्थों में देखने को मिलती है। आगम ग्रन्थों में पंचमुण्डी आसन का उल्लेख मिलता है। कविराजजी के गुरुदेव ने इतिहास में प्रथम बार नवमुण्डी तत्व का प्रकाश किया था, जिसके माध्यम से महाशक्ति के अवतरण के सम्बन्ध में कुछ अधिकारी शिष्यों से चर्चा भी की गई थी। इसका प्रयोजन ब्रह्मातीत महाभाव स्वरूप भावातीत माँ के चैतन्य से विश्व को प्रकाशमान करना था। शाक्त दर्शन की ऊर्ध्वतम भूमि पर आरोहण कर उस भूमि के प्रकाश को पूज्य कविराज जी ने अपने ढंग से पृथ्वी पर विकीर्ण करने की आजीवन चेष्टा की। यही उनके जीवन की चरम साधना थी। मनुष्य उनके पथ का अनुगामी बनकर उस महासंकल्प से युक्त हो, यही उनके प्रति सच्ची व सार्थक श्रद्धाञ्जलि होगी।

इस स्मारिका के प्रकाशन हेतु प्राप्त सामग्री एवं सहयोग के लिए सभी सम्मानित परामर्शदाताओं, लेखकों और शुभचिन्तकों के प्रति आभार व्यक्त करना हमारा परम कर्त्तव्य है, जिसके बिना यह कार्य सम्भव ही न था। स्मारिका के कलेवर को सुसज्जित करने तथा इसकी पूर्ण व्यवस्था के लिए लखनऊ केन्द्र के सहयोगी साधक धन्यवाद के पात्र हैं। साथ ही सब्बरवाल प्रिंटिंग प्रेस के मालिक एवं समस्त कर्मचारी भी बधाई के पात्र हैं जिनके अथक परिश्रम से यह प्रकाशन शीघ्र सम्भव हो सका।

अन्त में अखिल विश्व के कल्याण में व्यस्त उन 'अखण्ड मां' के चरणों में नतमस्तक होता हुआ, पूज्य चरण महामनीषी श्री कविराजजी द्वारा विश्व कल्याण हेतु मानव मात्र को दिये गये अप्रतिम सन्देश को इस शताब्दी वर्ष में जन-जन तक पहुंचाने में सभी संकल्प पूर्वक बहुमुखी सहयोग प्रदान करें, यही अभीष्ट है। जिनकी कृपा से जिनके निमित्त यह कर्मयज्ञ सम्पादित हुआ, उनके चरण कमलों में यह समर्पित है।

श्रीनारायण मिश्र
सम्पादक

अखण्ड महायोग संस्थान

पंजीकृत कार्यालय :

४-ए, बाल्मीकी मार्ग, लखनऊ

स्थायी समिति :

सर्वश्री

योगिराज दादा सीताराम	अध्यक्ष
रमेश चन्द्र अवस्थी	उपाध्यक्ष
श्रीनारायण मिश्र	सचिव
ललित मोहन मिश्र	उपसचिव
जगदीश प्रसाद दुबे	कोषाध्यक्ष
सुनील कुमार घोषाल	उपकोषाध्यक्ष
विन्ध्येश्वरी प्रसाद तिवारी	लेखापरीक्षक
हरिमोहन सिंह यादव	पुस्तकालयाध्यक्ष
जनार्दन प्रसाद श्रीवास्तव	प्रचार मन्त्री
आशुतोष त्रिपाठी	सदस्य
रामकृष्ण शर्मा	सदस्य
रमेश चन्द्र गुप्त	सदस्य

पदेन सदस्य :

प्रभाशंकर अवस्थी	अध्यक्ष कानपुर केन्द्र
देशराज जी	अध्यक्ष फगवाड़ा केन्द्र
निर्मल चन्द्र चक्रवर्ती	अध्यक्ष कलकत्ता केन्द्र
हरिहर त्रिवेदी	अध्यक्ष कालना केन्द्र
गंगा सिंह चौहान	अध्यक्ष शाहजहाँपुर केन्द्र
मनसुख भाई कन्सारा	अध्यक्ष बम्बई केन्द्र

म० म० पं० गोपीनाथजी कविराज शताब्दी महोत्सव समिति

डी ५८/२ए. सिगरा, बाराणसी

सर्वश्री

एस. पी. जैन	संरक्षक
राम कृष्ण बजाज	संरक्षक
योगिराज दादा सीताराम	अध्यक्ष
वृजवल्लभ द्विवेदी	उपाध्यक्ष
जगन्नाथ उपाध्याय	उपाध्यक्ष
शशिशेखर कविराज	उपाध्यक्ष
श्रीनारायण मिश्र	महामंत्री
श्रीमती इन्दू जैन	संयुक्त मंत्री
ए. एन. सिंह	संयुक्त मंत्री
रूपनारायण यादव	सह मंत्री
रामचन्द्र विश्वकर्मा	सह मंत्री
किशोरी लाल	कोषाध्यक्ष
राजाराम पाण्डेय	कोषाध्यक्ष
रमेशचन्द्र अवस्थी	सदस्य
देशराज जी	,,
निर्मलचन्द्र चक्रवर्ती	,,
प्रभाशंकर अवस्थी	,,
मनसुख भाई कन्सारा	,,
रामजी श्रीवास्तव	,,
विद्यासागर शुक्ल	,,
महेन्द्र पान्ड्या	,,
कृष्णगोपाल टावरी	,,
चन्द्रिकाप्रसाद जायसवाल	,,
हीरालाल जैन	,,
देवेन्द्र प्रसाद	,,
राम अवतार पाण्डेय	,,

राष्ट्रपति का प्रेस सचिव

Press Secretary to the President

No. F. 2-M/86

राष्ट्रपति सचिवालय
राष्ट्रपति भवन
नई दिल्ली-110004

President's Secretariat
Rashtrapati Bhavan
New Delhi-110004

August 25, 1986



Dear Shri Misra,

The President of India is glad to know that Akhand Mahayoga Sansthan will be organising the Centenary Celebrations of Mahamahopadhyaya Dr. Gopinath Kaviraj at Varanasi from September 7-9, 1986. The President sends his greetings and best wishes on the occasion.

Yours sincerely,

K. Suryanarayana

Shri S. N. Misra,
Secretary,
Akhand Mahayoga Sansthan,
4-A, Valmiki Marg, Lalbagh,
Lucknow-226001.

सत्यमेव जयते

PULOK CHATTERJI
DEPUTY SECRETARY

No. PMP—9970

प्रधान मंत्री कार्यालय
नई दिल्ली 110 011
PRIME MINISTER'S OFFICE
NEW DELHI 110011

18-8-86



Dear Shri Misra,

The Prime Minister sends his good wishes for the success of the centenary celebrations of Dr. Gopi Nath Ji Kaviraj being orgaised by the Akhand Mahayoga Sansthan in September, 1986 at Varanasi.

Yours sincerely,
Pulok Chatterji

Shri S. N. Misra,
Secretary,
Mahamahopadhyaya Gopinath Kaviraj,
Centenary celebration commitee,
D 58/2 A Sigra,
Varanasi

धर्म की जय हो	।। श्री हरिः ।।	प्राणियों में सद्भावना हो
अधर्म का नाश हो	हर हर महादेव	विश्व का कल्याण हो
श्री काशीविश्वनाथो विजयते

ऊर्ध्वाम्नाय श्री काशी सुमेरु मठ

ऊर्ध्वाम्नाय श्री काशी (सुमेरु) पीठाधीश्वर जगद्गुरुशंकराचार्य
अनन्त श्री विभूषित स्वामी श्री शंकरानन्दसरस्वती जी महाराज
बी १/१२८,ए-२, डुमरांव कालोनी
अस्सी, वाराणसी-२२१००५
पंजीकृत सं० : ३७६१	दूरभाष सं० ५५१६४

श्रद्धेय कविराज जी का व्यक्तित्व

सुनाम धन्य म० म० पं० गोपीनाथ कविराज जी से लगभग ६ वर्ष तक सम्बन्ध रहा। उनके पास तन्त्र एवं योग के ग्रन्थों का अध्ययन करने का सुअवसर मिला। कविराज जी निष्पृह एवं अध्यात्म प्रधान साधक थे। भारतीय दर्शनों के प्रायः सभी ब्रान्चों के प्रमेयांश के पारंगत विद्वान थे। विशेषकर आगम ग्रन्थों पर उनका एकाधिकार-सा था। साधना के क्षेत्र में भी विशेष रूप से "सौर विज्ञान" में उनका अद्भुत प्रवेश था।

स्वभाव से पूर्ण भारतीय संस्कृत वाङ्मय एवं भारतीय धर्म में परमनिष्ठाशील थे। समस्त प्राणियों में निरवैर भाव से रहने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। शंकाओं के समाधान में भी विलक्षण प्रतिभा थी। सभी के प्रति उनका व्यवहार अत्यन्त सरल था। छल, छद्म व कपट उनके पास नहीं पहुंचा था। वे भारत की मर्यादा एवं गरिमा के प्रतीक थे। अनेक भाषाओं पर उनका अप्रतिम अधिकार था। उनके सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार हो, भगवान विश्वनाथ एवं माँ अन्नपूर्णा से प्रार्थना करते हैं।

शंकरानन्द सरस्वती

—•—

दूरभाष : ८२३५० **Phone : 82350**

अमृतलाल नागर
Amritlal Nagar

चौक, लखनऊ – २२६ ००३
Chowk, Lucknow-226003

संस्कृत वाङ्मय के विश्व-विश्रुत विद्वान तंत्रशात्र के सिद्ध-प्रसिद्ध पंडित रत्न, अखण्ड महायोग के व्याख्याता योगिराज प्रातः स्मरणीय महामहोपाध्याय श्री श्री पंडित गोपीनाथ जी कविराज, पद्मविभूषण की जन्म शताब्दी का वर्ष वस्तुतः किसी भी चैतन्य राष्ट्र में महापर्व की तरह मनाया जाना चाहिए। कविराज जी अपनी मातृ भाषा बांग्ला, तत्कालीन राजभाषा अंग्रेजी और राष्ट्रभाषा हिन्दी में समान रूप से लेखन कार्य करते थे। पृथ्वी माता की सीमा का कहीं अंत है किन्तु परम पूज्य कविराज महाराज जगमगाते तारा-नक्षत्र पुंजों से अलंकृत आकाश के समान अनन्त ज्ञानमय थे। मेरे समान तुच्छ व्यक्ति की भला क्या विसात है कि साक्षात् ज्ञान पुरुष की प्रसंशा कर सकूं। महान आत्माओं का जन्मकाल 'सुरसरि सम सब कर हित' करने वाला होता है। इस पुनीत अवसर पर हम सब 'विश्व मानव' को उसी दिव्य आलोक में अपने भीतर देखें और पहचाने। प्रातः स्मरणीय कविराज महाराज के परमप्रिय मानसपुत्र और सहचर योगिराज पूज्यपाद दादा सीताराम जी महाराज उस ज्ञानमय प्रदीप को विश्व कल्याण के हेतु सयुक्ति और सुयुक्ति पूर्वक सम्हालकर आगे लिए जा रहे हैं जिसे श्री विशुद्धानन्द, गोपीनाथ कविराज महाराज की साधना और अनन्त सिद्धियों ने संवारा है। पूज्यपाद गोपीनाथ महाराज की जन्म शताब्दी के पावन अवसर पर इस जाज्जवल्यमान 'मानस पुत्रों' की परम्परा को सादर सविनय सभक्ति प्रणाम करता हूं।

अमृतलाल नागर

राम कृष्ण बजाज

"बजाज भवन"
यमुना लाल बजाज मार्ग,
२२६, नरीमन प्वाइन्ट,
बम्बई–४०० ०२१

२०–८–१९८६

पूज्य दादा सीतारामजी,
सादर बन्दे।

यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि गुरुदेव महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ जी कविराज का आविर्भाव शतवार्षिकी महोत्सव ७-८-९ सितम्बर, १९८६ को आयोजित हो रहा है।

महामनीषी महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथजी समस्त मानव समाज को अन्धकार से मुक्तकर ज्योति पथ पर ले जाने वाले महान सन्त थे। इन्होंने अपना सारा जीवन जगजननी मां के सतत् ध्यान चिन्तन द्वारा आत्मबोध प्राप्त करके मानव मात्र की सेवा में अर्पित कर दिया था।

श्रद्धेय गोपीनाथ कविराज जी संसारी यश, धन एवं पद पाने की आकांक्षा से सदैव अलिप्त रहे। आध्यात्मिक मार्ग की अखण्ड साधना के साथ ही कविराजजी परम ज्ञानी और महान विद्वान थे। इन्होंने इतिहास, दर्शन, धर्म, कला, संस्कृति आदि अनेक विषयों का गहन अध्ययन करके प्राचीन ऋषियों की भांति साधक शिष्य वर्ग का मार्ग दर्शन करते रहे। आपने उनसे शिक्षा ग्रहण की और उनके पद चिन्हों पर चलकर उनके कार्य को आगे बढ़ा रहे हैं। यह सभी प्रकार श्रेयस्कर है। मुझे विश्वास है कि आध्यात्मिक उन्नति के ऐसे प्रयासों से ही मानव मात्र का कल्याण होगा और विनाश के कगार पर खड़े विश्व को श्री श्री मां के आशीर्वाद से शान्ति प्राप्त हो सकेगी।

समारोह की सफलता के लिये कृपया मेरी तरफ से हार्दिक शुभ-कामनायें स्वीकार करें।

आपका,
राम कृष्ण बजाज



महातन्त्रयोगी म. म. डा. गोपीनाथ कविराज 'पद्मविभूषण'

'मेरी जीवन कथा–अचिन्त्य महाशक्ति की एक लीला'

—महामनीषी श्री गोपीनाथ जी कविराज

पूज्यश्री कविराज जी के जीवनकाल में एक बार उनके जीवन दर्शन के लेखन प्रस्ताव पर डा० भगवती प्रसाद सिंह, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय को उपरोक्त आशय का उत्तर महामनीषी ने उन्हें दिया था। इसी संदर्भ में महामनीषी ने आगे बोलते हुए कहा था कि, ''मैंने स्वयं अपने जीवन के अध्ययन का प्रयत्न किया किन्तु पूरी सफलता प्राप्त नहीं कर सका। जीवन की कोई घटना निरर्थक नहीं होती। छोटी से छोटी घटना में भी कोई न कोई गम्भीर रहस्य छिपा रहता है। सर्वाधिक महत्व तो दृष्टा होकर अपने जीवन की ओर लक्ष्य करने में है।''

अपने जीवन के बारे में जब पूज्य कविराज जी के स्वयं के विचार ऐसे रहे हों तब किसी अन्य का उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के बारे में कुछ कहने या लिखने का प्रयास कितना सार्थक रहेगा, इसकी सहज कल्पना की जा सकती है। फिर भी उनके आविर्भाव के शताब्दी दिवस के इस पावन पर्व पर उनके बारे में कुछ इस स्मारिका में लिखना अनिवार्य हो गया है। मात्र इस कर्त्तव्य के निर्वाह हेतु उनके व्यक्तित्व व कृतित्व पर जो कुछ भी सूचना प्राप्त हो सकी है, उसका समावेश इस लेख में किया जा रहा है।

पूज्यश्री कविराज जी के जीवनकाल की उपलब्धियों का आकलन करने में उनके जीवन को मुख्य रूप से तीन भागों में बांटा जा सकता है। प्रथम, जो उनके जन्म से लेकर उनके शिक्षण, संस्कृतियों के अध्ययन व उनमें उनके अनूठे योगदान तथा सरस्वती भवन एवं राजकीय संस्कृत कालेज, वाराणसी में क्रमशः पुस्तकाध्यक्ष एवं आचार्य पद पर कार्यरत रहते हुए उनके शोध कार्यों से सम्बन्धित है। द्वितीय काल, उनके जीवन की वह अवस्था है जिसमें उनके अन्दर सत्यान्वेषण की पिपासा का जागरण होता है और जिससे प्रेरित होकर उन्हें गणमान्य साधुसन्तों के समागम का अवसर मिलता है और प्रायः इसी अवस्था में अखण्ड महायोग के आधार की तैयारी भी उनमें शुरू होती है। इस काल में उनके मुख्य मार्ग दर्शक होते हैं योगिराज श्री शिवराम किंकर योगत्रयानन्द जी। तृतीय व अन्तिम काल का, शुभारम्भ श्रीकविराजजी के गुरू योगिराजाधिराज श्री विशुद्धानन्द परमहंसदेवजी के सान्निध्य लाभ एवं उनसे दीक्षा ग्रहण कर, अखण्ड महायोग की साधना में उनके प्रवेश से होता है।

बंगदेश के महाराजा आदिशूर के शासनकाल में १०६३ ई० में पुत्रेष्टि यज्ञ हेतु कन्नौज के कान्यकुब्ज परिवार से पांच कुलीन ब्राह्मण बंगवास के लिये आमन्त्रित किये गये। इनमें शान्डिल्य गोत्रीय भट्टनारायण अन्यतम थे। कालान्तर में इन्हीं के एक वंशज राम को बागची की उपाधि प्रदान की गयी और पुनः जब राम के कुछ वंशजों ने चिकित्सकीय व्यवसाय अपना लिया तो ये लोग 'कविराज' आस्पद से जाने गये। गोपीनाथ जी का आविर्भाव वारीद्र श्रेणी के ब्राह्मणों की इसी शाखा में हुआ।

श्री गोपीनाथ जी कविराज के पितामह का नाम श्री चन्द्रनाथ कविराज था। इनके देहावसान काल में गोपीनाथ जी के पिता श्री वैकुन्ठ नाथ मात्र ६ वर्ष के थे। उन्हें अपने पैतृक ग्राम दान्या में काफी भूमि उपलब्ध थी। यह ग्राम पूर्वी बंगाल के मैमनसिंह जनपद के तंगैल तहसील में स्थित था। बावजूद इसके उनके मामा

पं० कलाचन्द्र उन्हें अपने साथ अपने ग्राम कन्थालिया ले गये, जो दान्या से १७–१८ कि०मी० दूर था। पं० कलाचन्द्र के अपने कोई सन्तान न होने के कारण, उन्होंने श्री वैकुन्ठनाथ का पुत्रवत पालन पोषण किया। परम्परानुसार वैकुन्ठनाथ जी का बाल्यकाल में ही विवाह हो गया। इनकी पत्नी श्रीमती सुखदा सुन्दरी देवी पं० हरीश चन्द्र मौलिक की पुत्री थीं, जो इनके जन्मोपरान्त ही विधुर हो गये थे। श्रीमती सुखदा सुन्दरी देवी का पालन पोषण उनके ग्राम की ही एक वृद्धा बामा सुन्दरी जी ने किया और इन्होंने ही इनका विवाह श्री वैकुन्ठनाथ से सम्पन्न कराया।

श्री वैकुन्ठनाथ जी एक मेधावी छात्र थे। उन्होंने इन्ट्रेन्स, इन्टरमीडिएट व बी. ए. की परीक्षायें प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कीं। बी. ए. में प्रथम श्रेणी में प्रथम आते हुए इन्होंने अंग्रेजी, संस्कृत व दर्शन विषयों में विशेष योग्यता प्राप्त की। इसके बाद बी. ए. (आनर्स) परीक्षा में भी वे विश्वविद्यालय में प्रथम श्रेणी के साथ प्रथम आये। संस्कृत कालेज के एम. ए. (प्रथम वर्ष) में उन्होंने प्रवेश लिया किन्तु दुर्भाग्य से इसके वार्षिक परीक्षा के पूर्व ही ये बीमार हो गये और ३० अप्रैल, १८८७ ई० को इनका निधन हो गया। यहां यह उल्लेखनीय है कि श्री वैकुन्ठनाथ जी के सहपाठियों एवं मित्रों में स्वामी विवेकानन्द, श्री ब्रजेन्द्र नाथ सील व भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद जी के गुरू श्री सतीश चन्द्र मुखर्जी सरीखे महापुरुष रहे।

श्रीमती बामा सुन्दरी जी के गृह में पिता के मृत्योपरान्त पांच माह बाद श्री गोपीनाथ जी का जन्म ७ सितम्बर १८८७ ई० को हुआ। गोपीनाथ जी के पास दो आश्रय थे, एक कन्थालिया ग्राम में अपने मामा के यहां एवं दूसरा धामराई ग्राम में बामासुन्दरी देबी का निवास स्थान। इनकी विधवा मां सुखदा सुन्दरी जी बारी-बारी से दोनों जगह रहा करतीं थीं। बामासुन्दरी जी एक धार्मिक प्रवृत्ति की महिला थीं और उन्होंने इसी रूप में गोपी नाथ जी की मां को संस्कृत किया। इन दोनों महिलाओं का गोपीनाथ जी के बाल्यकाल पर काफी प्रभाव पड़ा, और जिन महामनीषी गोपीनाथ जी का उद्भव कालान्तर में हुआ, उस व्यक्तित्व के निर्माण में इस प्रभाव का बड़ा योगदान रहा।

गोपीनाथ जी की प्रारंभिक शिक्षा कांठालिया के प्राइमरी स्कूल में हुई। यहीं पर १८ फरवरी १८९६ ई० को नौ वर्ष की आयु में आपका उपनयन संस्कार किया गया। सन १८९८ ई० तक यहीं पर आप बंगला, संस्कृत और अंग्रेजी पढ़ते रहे। उसी समय धामराई में एक नया अंग्रेजी स्कूल खुला, जहां आपकी माता ने आपको तीसरी कक्षा में प्रवेश दिलाया। इस विद्यालय में आपने कक्षा ८ तक की पढ़ाई की और यहीं आप विद्यालय के दो सुयोग्य अध्यापकों के सम्पर्क में आये जिनके नाम पं० हाराण चन्द्र चक्रवर्ती तथा पं० प्रसन्न कुमार चक्रवर्ती थे। संस्कृत भाषा व साहित्य की ओर कविराज जी को आकर्षित करने में इन गुरूजनों का बड़ा श्रेय रहा।

तेरह वर्ष की अल्प आयु में ही आपका सन् १९०० में कुसुमकामिनी देबी के साथ विवाह हो गया। कुसुमकामिनी देबी जी के पिता पं० ब्रजशंकर अर्धकाली वंश से सम्बद्ध थे एवं ग्राम हालडीहा आपका निवास स्थान था। आपके छोटे भाई पं० कार्तिक शंकर विद्यालंकार उस अंचल के प्रसिद्ध विद्वान थे एवं कुशाग्र बुद्धि गोपीनाथ जी को बहुत स्नेह करते थे।

धामराई में गोपीनाथ जी अभी तीन वर्ष भी नहीं व्यतीत कर पाये थे कि आपके संरक्षक पं० कलाचन्द सान्याल का ८ जुलाई १९०१ को देहावसान हो गया, उनके पास प्रचूर मात्रा में जमीन जायदाद व नगद रुपया

था, जिसे वे गोपीनाथ जी को ही देना चाहते थे। उनके निधन से ऐसा न हो पाया और उनके पट्टीदारों ने बलात् जायदाद पर कब्जा कर लिया। विधवा मां सुखदा सुन्दरी देवी को यह दूसरा आघात लगा। वे पुनः निराश्रित हो गयीं।

श्री कलाचन्द्र जी के मृत्योपरान्त पं० कार्तिक शंकर ने गोपीनाथ जी को हालडीहा बुला लिया। परन्तु गोपीनाथ जी वहां न जाकर धामराई में ही अपनी नानी वामासुन्दरी जी के यहां पढ़ते रहे। आठवीं कक्षा पास करने के बाद आप उच्च माध्यमिक शिक्षा के लिये ढ़ाका आ गये। यह प्रेरणा उन्हें कांठालिया के ही श्री अविनाश चन्द्र सरकार ने दी थी। ढ़ाका के प्रवास काल में गोपीनाथ जी के भोजन और निवास की व्यवस्था का भार श्री अविनाश चन्द्र सरकार ने अपने उपर सहर्ष ले रखा था। यहां पुनः आपका जगन्नाथ कालेज के अधीक्षक श्री अनाथबन्धु मौलिक से सम्पर्क बना। श्री मौलिक बाल ब्रह्मचारी थे और उनका आध्यात्मिक पथ प्रदर्शन वारदी के एक महात्मा श्री लोकनाथ योगिराज कर रहे थे, जिनकी आयु १६० वर्ष की थी। इन लोगों के प्रभाव से गोपीनाथ जी का प्रवेश ढ़ाका के के० एल० जुबिली स्कूल में हो गया। मौलिक जी के प्रयास से आप निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करने लगे। अरमनी टोला के यूनियन मेडिकल मेस में आपके भोजन की व्यवस्था कर दी गयी और यहीं से गोपीनाथ जी ने इण्ट्रेन्स परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया।

भोजन व शुल्क से त्राण पाने के बावजूद भी कापी, किताब व अन्य आवश्यक खर्चों के लिये धनाभाव की पीड़ा बनी रही। कार्तिक शंकर जी थोड़ी बहुत सहायता कर दिया करते थे जो अपर्याप्त थी। इसी अवसर पर अपनी पितृभूमि दान्या के समीपवर्ती आलीशाकंदा गांव के एक प्रतिष्ठित व्यापारी शाह भरव नाथ राय, जो क्षात्रों को सहायता दिया करते थे, के पास पं० कार्तिक शंकर गोपीनाथ जी को लेकर गये और उनसे दस रुपये प्रतिमाह की छात्रवृत्ति का प्रबन्ध करा दिया। इसके अतिरिक्त चार रुपये प्रतिमाह मेस के खर्चे के लिये भी श्री भैरव नाथ राय ने देना सहर्ष स्वीकार कर लिया। चलते समय श्री भरव नाथ राय ने यह जानकारी दी कि इस बालक के निमित्त पं० कलाचन्द्र ६ हजार रुपये बिना किसी लिखा पढ़ी के उनके पास छोड़ गये हैं। इस ईमानदारी से पं० कातिक शंकर स्वब्ध रह गये।

ढाका स्कूल में वहाँ के आचार्य श्री विश्वेश्वर बनर्जी और बड़े बाबू श्री मथुरा मोहन चक्रवर्ती के व्यक्तित्व का गोपीनाथ जी के जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। विद्यार्थियों में नैतिक और आध्यत्मिक उत्थान के लिए यह दोनों महानुभाव सदा प्रयत्नशील रहा करते थे।

ढाका में ही गोपीनाथ जी का परिचय संस्कृत के विद्वान पं० रजनीकान्त से हुआ जो पाणिनी व्याकरण के विशेषज्ञ के रूप में विख्यात थे। यहीं आप सुविख्यात राजनेता बाबू विपिनचन्द्र पाल, उनके सहपाठी श्री सुवोध चन्द्र गुहा और उनके चाचा रायबहादुर बाबू काली प्रसन्न घोष, जो बंगला पत्रिका 'बान्धव' के सम्पादक भी थे, से आपका सम्पर्क बना। श्री घोष से ही प्रेरित होकर गोपीनाथ जी ने इस पत्रिका में अपनी कविताएँ देनी आरम्भ कीं।

इन्हीं दिनों पूरे बंगाल में विशेष रूप से ढाका में, एक जबरदस्त धार्मिक पुनरूत्थान हो रहा था, लेकिन सभी धर्मों के अनुयायी एक ही परिवार के सदस्य सदृश्य शान्तिमय जीवन यापन कर रहे थे। यह 'ब्रह्म समाज' के उपदेशों के कारण सम्भव था। गोपीनाथ जी ढाका में प्रत्येक रविवार को आयोजित ब्रह्म समाज के सम्मेलनों में भाग लिया करते थे और तन्मयता से उपदेशों का श्रवण किया करते थे।

दूसरे महापुरुष जिनका गोपीनाथजी के जीवन पर प्रभाव पड़ा, वे महान दार्शनिक और धार्मिक विचारक श्री रामदयाल मजुमदार थे जिन्होंने गीता पर एक भाष्य भी लिखा था। इस भाष्य के पढने के बाद गोपीनाथजी के जीवन के समस्त दृष्टिकोण में एक अद्भुत परिवर्तन आया।

गोपीनाथ जी की संस्कृत के प्रति एक प्राकृतिक अभिरुचि थी। उन्होंने कांठालिया से अपने पिता द्वारा एकात्रित संस्कृत की बहुत सी किताबें उत्तराधिकार में प्राप्त कीं और जब वे प्राइमरी की शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, तभी से इन पुस्तकों के पठन में रुचि लेने लगे। इस संग्रह में श्री तारानाथ तर्कवाचस्पति के 'सिद्धान्त कौमुदी की टीका' एवं श्री रामनाथ सरस्वती के 'छात्रबोध व्याकरण' का आपने विशेष रूप से अध्ययन किया।

ढाका में ही आपकी अंग्रेजी साहित्य के प्रति विशेष रुझान बनी। श्री हेरम्बचन्द्र मैत्रा, जो जगन्नाथ कालेज के उन दिनों आचार्य थे और एमर्सन एवं वर्डस्वर्थ की कृतियों के विशेषज्ञ माने जाते थे, की प्रेरणा से आपने जब कि आप मात्र इन्ट्रेन्स के ही विद्यार्थी थे, सेक्सपियर, मिल्टन, बाइरन, वर्डसवर्थ एवं एमर्सन की सारी कृतियों का अध्ययन आरम्भ कर दिया। श्री मैत्रा की पदमुक्ति के बाद उनके उत्तराधिकारी श्री हरिनाथ दे से भी आपका सम्पर्क बना और इस सम्पर्क का ही यह परिणाम रहा कि गोपीनाथ जी ने १६०५ में इन्ट्रेन्स की परीक्षा प्रथमश्रेणी में उत्तीर्ण की। परीक्षा देने के बाद ही आप बीमार पड़ गए और आपको अपनी पढ़ाई एक वर्ष के लिए स्थगित करनी पड़ी।

आगे की पढ़ाई के लिए पहले गोपीनाथ जी ने कलकत्ता जाने का निश्चय किया, परन्तु बाद में आपने इस आशय से जयपुर जाने का निर्णय लिया कि वहाँ उन्हें श्री विद्याधर चक्रवर्ती एवं प्रधान मंत्री श्री संसार चन्द्र सेन, जिनके बारे में उन्होंने 'बान्धव'पत्रिका में बहुत कुछ पढ रक्खा था, से निश्चित सहायता मिलेगी। जयपुर आने के पश्चात् आपने महाराजा कालेज में प्रवेश लिया और कुछ दिनों तक उपाचार्य श्री मेघनाथ भट्टाचार्य के घर भोजन करते रहे, परन्तु यह व्यवस्था अस्थायी थी। स्थायी व्यवस्था के लिए आपने प्रधानमंत्री श्री संसार चन्द्र सेन से मुलाकात की और पुनः उन्हीं के निर्देश पर आप महाराजा के सचिव श्री अविनाश चन्द्र सेन से भी मिले। बाद में आपके भोजन और आवास की स्थायी व्यवस्था हो गई।

महाराजा कालेज में एक छात्र की हैसियत से गोपीनाथ जी सन् १६०६ से १६१० तक रहे। सन् १६१० में आपने बी० ए० की परीक्षा इलाहाबाद विश्वविद्यालय से उत्तीर्ण की। परीक्षा के पश्चात् आप पुनः जयपुर लौट आए और एक माह रहने के उपरान्त बंगाल चले गये।

गोपीनाथ जी में उत्कट अध्ययन की पिपासा थी। अपने जयपुर के प्रवास काल में अपनी पाठ्य पुस्तकों के अलावा बड़ी संख्या में दर्शन, भारतीय धर्म, प्राचीन एवं मध्यकालीन इतिहास और पुरातत्व विज्ञान का अध्ययन किया। आपने अंग्रेजी साहित्य को भी चासर से आरम्भ कर १६वीं सदी तक के जितने भी कवि हुए, उनकी कृतियों को पढ़ डाला। इसी के साथ-साथ फ्रान्सीसी, स्पेनी, इतालवी, जर्मन और रूसी भाषाओं की जितनी भी प्रमुख साहित्य कृतियां रहीं, उनका भी आपने रुचिपूर्ण अध्ययन किया। यूरोपीय कवियों में गोपीनाथ जी के प्रिय कवि वर्डस्वर्थ, बाइरन, कार्लाइल, टेनिसन, ब्राउनिङ्ग, गेटे, टाल्सटाय, मौलियर, वोलतायर और रोसा थे। आप डा० आर्थर वेनिस की विद्वता से, जो उन दिनों बनारस संस्कृत कालेज के आचार्य थे और जिन्होंने अंग्रेजी भाषा में 'वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली' एवं 'वेदान्त परिभाषा' का अनुवाद किया था, बहुत आकर्षित हुए। जयपुर छोड़ने के पश्चात् गोपीनाथ जी का कलकत्ता जाने का उद्देश्य श्री ब्रजेन्द्र नाथ सील से मुलाकात करना था, जिनकी कुछ रचनायें, इन्हें 'कलकत्ता रिव्यू' में पढ़ने को मिलीं थीं तथा जिनसे यह काफी प्रभावित हुए थे।

जून १६१० में डा० वेनिस के आकर्षण के कारण गोपीनाथ जी ने क्वीन्स कालेज वाराणसी में अग्रिम अध्ययन हेतु प्रवेश लिया। गोपीनाथ जी के संस्कृत एवं पुरातत्व विज्ञान के विशद अध्ययन को देखते हुए डा० वेनिस ने उन्हें एम० ए० में प्रवेश लेने की अनुमति दे दी। यहां आपने इतिहास एवं संस्कृत पुरालेखशास्त्र, मुद्राविज्ञान तथा पुरालिपि विषयों का डा० वेनिस के निदेशन में अध्ययन आरम्भ किया। डा० वेनिस की इच्छा पर आपने प्राचीन परिपाटी से संस्कृत का अध्ययन भी प्रारम्भ किया। अप्रैल १६१३ में आपने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम० ए० अन्तिम वर्ष की परीक्षा सबसे अधिक अंक अर्जित करते हुए जो उस वर्ष का कीर्तिमान बना, प्रथम श्रेणी में प्रथम आते हुए उत्तीर्ण की। एम० ए० पास करने के पश्चात्, गोपीनाथ जी के लिए बहुत स्थानों से नियुक्तियों के प्रस्ताव आए, लेकिन डा० वेनिस के परामर्श पर इन्होंने वाराणसी में ही रहकर शोधकार्य करना स्वीकार किया। सन् १६१४ में सरस्वती भवन की स्थापना के पश्चात् १२५ रु० प्रतिमास के वेतन पर अधीक्षक के पद पर आपकी नियुक्ति हो गयी।

सरस्वती भवन में संग्रहीत दुर्लभ हस्तलेखों के प्रकाशन हेतु डा. वेनिस ने एक योजना बनायी। इसके अन्तर्गत न्याय, वेदान्त, धर्मशास्त्र, तंत्र, भौतिक शास्त्र, मीमांसा, पांचरात्र, आगम तथा गणित आदि अनेक विषयों पर जो महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए, उनकी अधिकांश सामग्री गोपीनाथ जी द्वारा ही प्रस्तुत हुई थी।

डा. वेनिस का ४ अप्रैल १६१८ में निधन हो गया। इनकी जगह पर महापहोपाध्याय डा. गंगानाथ झा की नियुक्ति हुई। गोपीनाथ जी से डा. झा का गुरुभाई जैसा ही व्यवहार था। गोपीनाथ जी ने योगिराजाधिराज विशुद्धानन्द परमहंसदेव से इसी वर्ष २१ जनवरी १६१८ को दीक्षा प्राप्त की। इसी बीच इनकी रुचि एवं अध्ययन की दिशा में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। भक्ति और दर्शन की ओर इनका झुकाव अधिक होता गया। भारतीय आस्तिकवाद, गोरखपंथ, वीर शैव मत, तांत्रिक दर्शन, मध्यकालीन भक्ति सम्प्रदाय–मुख्यतया गौडीय वैष्णव धर्म–इनके विशेष अध्ययन के विषय हो गए।

१६२४ ई. में डा. गंगानाथ झा के अवकाश ग्रहण करने पर गोपीनाथ जी गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज, वाराणसी के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। इसके साथ ही कुछ समय तक आप रजिस्ट्रार और परीक्षायोजक का कार्य भी सम्हालते रहे। तेरह वर्ष तक पूर्ण निष्ठा से संस्कृत कालेज का कार्य करते हुए १६३७ में गोपीनाथ जी ने कालपूर्व ही अवकाश ग्रहण हेतु आवेदन पत्र दे दिया। प्रान्तीय शिक्षा विभाग के अन्याय आकर्षणों के बावजूद भी आप अपने पदत्याग के संकल्प पर दृढ़ रहे और विवश होकर शासन को १३ मार्च १६३७ ई. को इन्हें कार्यमुक्त करना पड़ा। इस पद से निवृत्त होने के पश्चात एकनिष्ठ भाव से गोपीनाथ जी स्वाध्याय एवं साधना में निरत रहने लगे।

गोपीनाथ जी के दो सन्तानें हुईं। एक पुत्री सुधारानी और एक पुत्र जितेन्द्र नाथ। इन दोनों का जन्म दान्या में ही हुआ था। सन १६१४ ई. में जब इनकी नियुक्ति क्वींस कालेज में हो गई तो अपने परिवार के साथ गोपीनाथ जी अपने मौसी और मौसा को भी काशी ले आए। १० अप्रैल १६२५ ई. को आपकी माता सुखदा सुन्दरी देवी परलोकवासिनी हुई। इसी वर्ष सुधारानी का विवाह डाका जिले के श्री सुशील नाथ के साथ सम्पन्न हुआ। देश के विभाजन के बाद यह परिवार पश्चिमी बंगाल चला आया और दमदम में बस गया। पुत्र श्री जितेन्द्र नाथ ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी. एस-सी, एल. एल. बी. पास किया। १६३३ में इनका विवाह हुआ। विवाहोपरान्त भारत बैंक में सहायक प्रबन्धक के पद पर इनकी नियुक्ति हुई। बैंक की नौकरी के पश्चात जितेन्द्र नाथ उत्तर प्रदेशीय शासन के राशनिंग विभाग में सीनियर मार्केटिंग इन्सपेक्टर के पद पर नियुक्त हुए। इनके दो पुत्रियां तथा एक पुत्र हुआ। अल्पायु में ही जितेन्द्र नाथ का निधन हो गया।

श्री गोपीनाथ जी ने अवकाश ग्रहण के पश्चात सिगरा में अपना एक निजी भवन निर्मित कराया जिसमें उनके पौत्र श्री शशि शेखर कविराज सपरिवार आज भी रहते हैं।

पूज्य श्री कविराज जी के पास अनुभव सिद्ध समृद्ध ज्ञान का अक्षय भण्डार था और रात दिन जितने भी जिज्ञासु तथा शोधार्थी मार्ग दर्शन हेतु उनके पास आया करते थे, उनको वे समुचित निर्देशन देते थे। जीवनव्यापी स्वाध्याय एवं साधना द्वारा संचित ज्ञान तथा दिव्य अनुभूतियां आपके व्यक्तित्व में घुल मिलकर स्वभाव का अभिन्नांश बन गई थी। आपका दैदीप्यमान मुखमण्डल तथा विशाल तन्द्रिल नेत्र जीवन मुक्तावस्था के परिचायक थे। आप सदैव उत्साहयुक्त रहे। सुख में हर्षातिरेक से गद्‌गद् और दुःख में पीड़ा से व्याकुल उन्हें कभी नहीं देखा गया। एकलौते युवा पुत्र का आंखों के समक्ष निधन, उनकी समाधि भंग नहीं कर सकी। कैंसर तथा मूत्रकृच्छ के लिए घातक शल्यक्रिया और तदजनित असह्य पीड़ा आपके मानसिक संतुलन को आन्दोलित न कर सकी। दीर्घव्यापी भीषण बीमारी के मध्य अचेतावस्था में भी आपकी संध्या का क्रम कभी नहीं टूटा। आत्मख्यापन से आपको इतनी अरुचि थी कि शासन तथा विश्वविद्यालयों द्वारा प्रदत्त मानद उपाधियों को लेने आप कभी नहीं गए। साधना तथा अध्ययन की दिशा को छोड़कर सांसारिक कार्यों में आपने अपनी रुचि को कदापि प्रधानता नहीं दी। आप प्रायः कहा करते थे– "जो वस्तु आवश्यक होती है, भगवान की कृपा से स्वतः प्राप्त हो जाती है"।

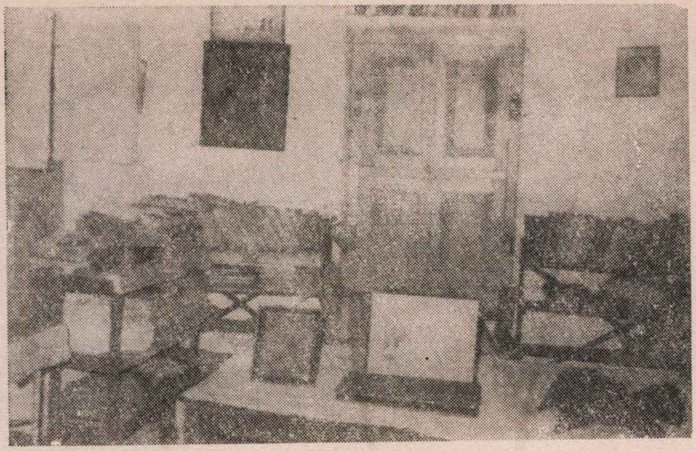
पूज्य श्री कविराज जी समन्वय को विश्व संचालन की मूल शक्ति मानते थे। सूक्ष्म विश्लेषणों के द्वारा परस्पर विरोधी विचारों के विरोध का परिहार आपके दार्शनिक चिन्तन की मुख्य विशेषता थी। आपकी इस अन्तर्भेदी दृष्टि का अनुमान आपके निम्न कथन से लगाया जा सकता है,––"अनात्मवाद अनहंवादी बनकर सबसे समत्व स्थापित करता है जबकि आत्मवादी सबमें आत्मभाव लाकर समत्व स्थापित करता है। लक्ष्य दोनों का एक है। साधन भिन्न–भिन्न है।" आपके समन्वय दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता थी––समन्वय स्थापना की प्रक्रिया में सभी पक्षों के "स्व" की रक्षा करना। समन्वय को स्थायित्व प्रदान करने के लिए यह एक अनिवार्य शर्त है।

इन महामनीषी का जीवन उस अथाह सागर की भांति है, जिसे मापना हम अल्पज्ञों के लिए सम्भव नहीं। आपका समग्र जीवन जिस महासंकल्प की पूर्ति हेतु समर्पित रहा है, उस संकस्प से हम सभी लोगों की सतत् युक्तता ही इन महामनीषी के प्रति सच्ची एवं सार्थक श्रद्धाञ्जलि होगी। पूज्य श्री कविराज जी का कथन था––"मात्र तुम्हें सदा मुझसे युक्त रहना है।" श्री कविराज जी के इस निर्देश का अनुसरण करते हुए उनसे युक्त रहने के प्रति हम लोगों का संकल्प जितना अधिक मजबूत और घनीभूत होगा, वाञ्छित रूपान्तरण का पथ उतना ही सरल और उन्मुक्त बनेगा।

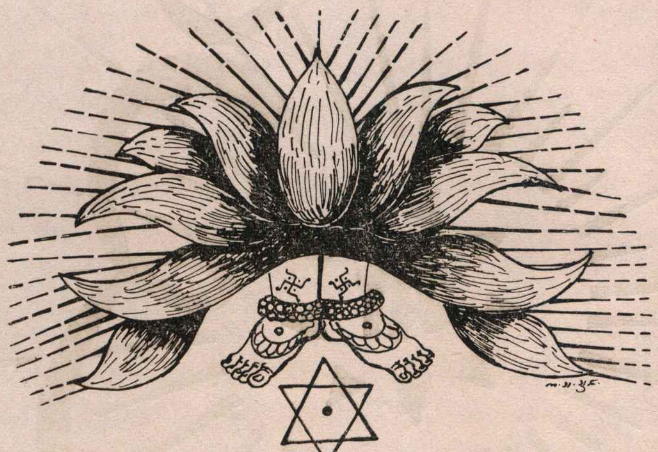
महामनीषी पं० गोपीनाथ जी कविराज के आविर्भाव के इस शताब्दी दिवस के पावन अवसर पर उन्हें शत–शत वन्दन !!

जय माँ !!

व्यष्टि, समष्टि तथा महासमष्टि सभी काल के नियंत्रण में हैं, किन्तु सत्यराज्य यथार्थ गुरुराज्य है जो द्वन्द्वातीत है। वहां रात-दिन नहीं, सृष्टि-संहार नहीं तथा चित्-अचित् का विभाजन नहीं। यह गुरुराज्य ही वास्तविक स्वराज्य है।



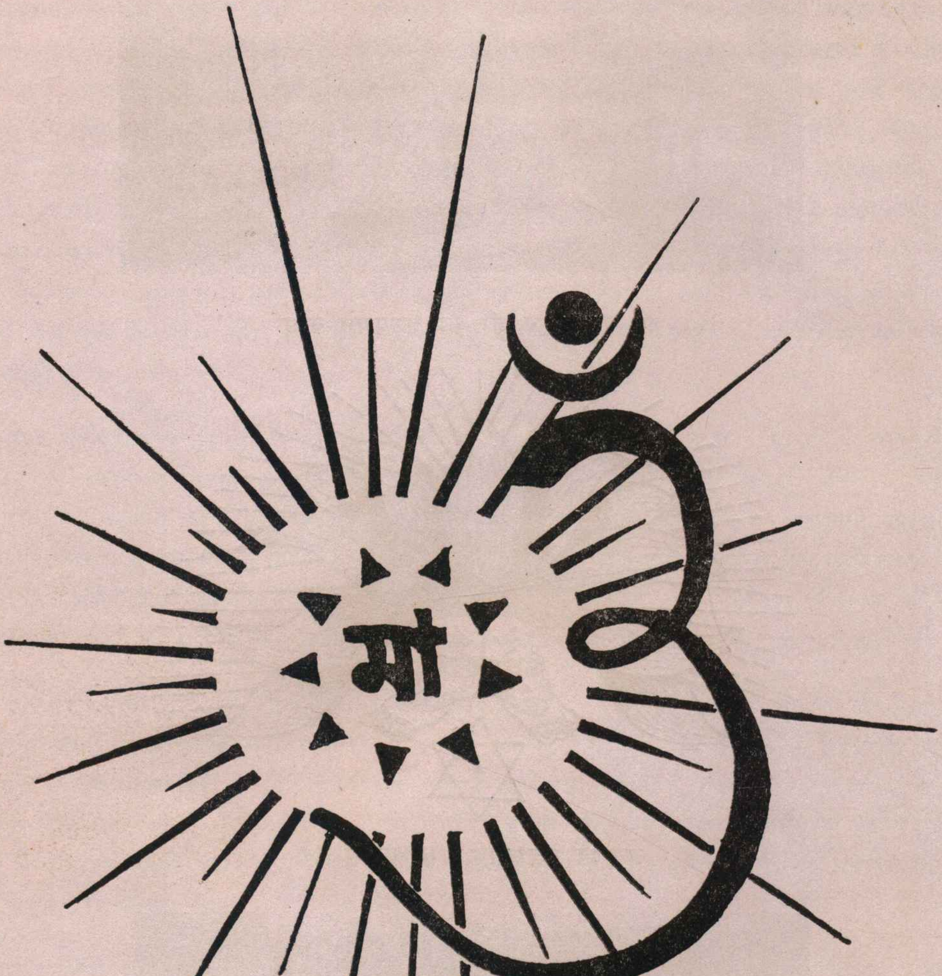
श्री कविराज जी का अध्ययन कक्ष



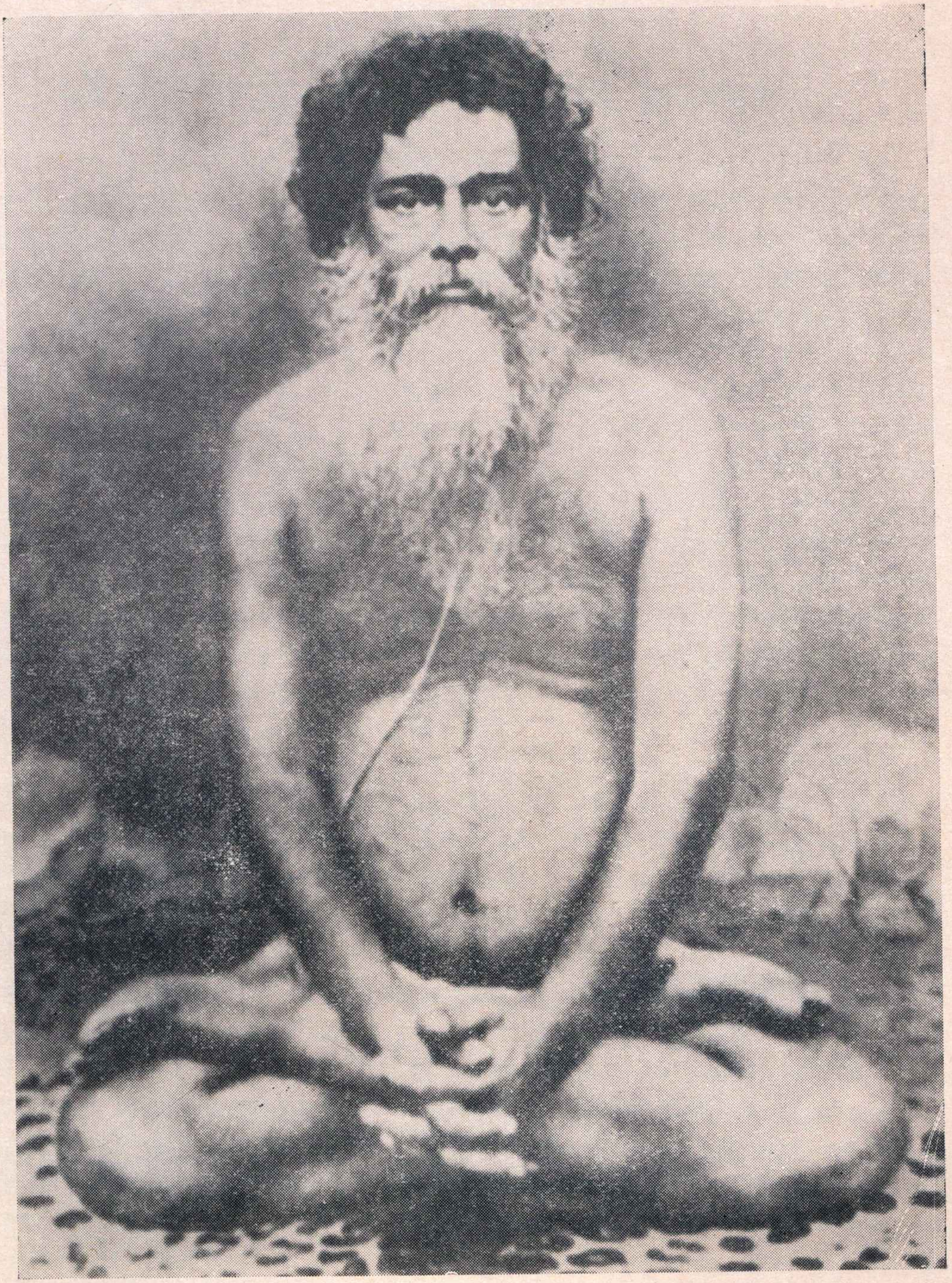
अखण्ड महायोग : साधन प्रतीक



श्री कविराजजी के अध्ययन कक्ष में श्री दादा जी



अखण्ड महायोग : तत्व प्रतीक



योगिराजाधिराज श्री श्री विशुद्धानन्द जी परमहंस देव

श्री श्री बाबा विशुद्धानन्द एवं ज्ञानगंज

युगों–युगों से ऊर्द्ध सत्ता में पहुंचे महान सिद्धों एवं योगियों की तपस्या से समष्टि रूप हुई, घनीभूत इच्छा शक्ति के फलस्वरूप अलौकिक ज्ञानराज्य का आविर्भाव हुआ। जिस ज्ञानगंज की आलोचना प्रस्तुत निबन्ध में की जा रही है उसका उक्त ज्ञानराज्य से अत्यन्त गूह्य एवं रहस्यपूर्ण सम्बन्ध है। ज्ञानगंज साधारण भौगोलिक स्थानों की तरह नहीं है। यह यद्यपि भूपृष्ठ में गुप्त भाव से विद्यमान है तथापि इसका प्रकृत स्वरूप अत्यन्त दूर है। प्रकृत योगी के अलावा इस स्थान का परिचय अन्य किसी को नहीं मिल सकता, इसमें प्रवेश करने की बात तो दूर रही। किन्तु अधिकारीगणों का अनुग्रह होने पर इस जगत के साधारण मनुष्य भी वहां जाने में समर्थ हो सकते हैं। भूमि स्थित ज्ञानगंज कैलाश के आगे ऊर्द्ध में अवस्थित है। ज्ञानगंज, राजराजेश्वरी मठ एवं परमगुरुदेव का श्री मन्दिर स्तर विन्यास की दृष्टि से विभिन्न स्तरों में अवस्थित हैं। ज्ञानगंज सबसे नीचे, राजेश्वरी मठ मध्य में तथा परमगुरु महातपा का स्थान सर्वोच्च है। यह स्थान योगियों के द्वारा निर्मित है। यह स्थान सृष्टि के आदि में लोकसृष्टा के द्वारा सृष्टि रूप से प्रकट नहीं हुआ है। ध्रुव लोक जिस प्रकार साधक-विशेष की तपस्या के फलस्वरूप काल विशेष में प्रकट हुआ है, गोलोक जिस तरह श्रीकृष्ण के भूपृष्ठ पर अवतरण के साथ संश्लिष्ट उच्चतम नित्य धाम है, सुखावती जिस तरह अमिताभ बुद्ध के विशुद्ध शक्ति प्रभाव से प्रतिष्ठित है, ज्ञानगंज भी उसी तरह योगि विशेष की तीव्रतम साधना के प्रभाव स्वरूप विश्व कल्याण के महालक्ष्य को पूर्ण करने के उद्देश्य से विज्ञान भूमि के रूप में रचित हुआ है। वस्तुतः नित्य होकर भी वह निमित्त योग से प्रकट हुआ है। ब्राह्मी सृष्टि के साथ ज्ञानगंज का अति घनिष्ठ सम्बन्ध है।

ज्ञानगंज के रहस्य को वहां के साथ संश्लिष्ट परमहंसगणों एवं भैरवी माताओं ने गंभीर एवं महिमा मंडित किया है। ज्ञानगंज में अनेकों ब्रह्मचारी, दण्डी सन्यासी, तीर्थस्वामी, परमहंस, भैरवी, ब्रह्मचारिणी एवं कुमारी हैं। वहां पर सर्वदा योगचर्चा के साथ विज्ञान चर्चा होती है। विज्ञान के अर्थ में सूर्य विज्ञान, चन्द्र विज्ञान, वायुविज्ञान, नक्षत्र विज्ञान आदि समझना होगा।

मनुष्य सृष्टि के इतिहास में श्री श्री विशुद्धानन्द का जन्म एक अभूतपूर्व अलौकिक घटना है। आध्यात्मिक सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार मनुष्य योनि में साधारणतः जीवों का जन्म अथवा चैतन्य सत्ता के पुरुषोत्तम अंश से अवतारी महापुरुषों का आविर्भाव सिद्ध हुआ करता है, वैसा कुछ श्री श्री बाबा के साथ नहीं था। चैतन्य सत्ता से ऊपर पूर्णसत्ता या विशुद्ध सत्ता अंश से शून्य मार्ग का अवलम्बन कर सीधे मनुष्य योनि में आपका अवतरण हुआ था। हजारों वर्षों से साधनारत महान योगियों के समवेत कर्मफल के फलस्वरूप ही विशुद्ध सत्ता को अंश रूपेण धरती पर अवतरित होना पड़ा। विशुद्ध सत्ता सर्वोच्च आदि सत्ता है। महाचैतन्य और महाकाल दोनों का जहां से उद्भव है अर्थात चिद् और अचिद् के परे जो सत्ता है, उसे ही विशुद्ध सत्ता कहते हैं। परमब्रह्म की अलौकिक प्रतिभा श्री श्री विशुद्धानन्द में जन्मजात विद्यमान थी, समस्त ज्ञान-विज्ञान स्वयं जाग्रत थे। वह अद्वितीय थे, किन्तु संसार में लोक-व्यवहार हेतु उन्हें द्वितीय होना पड़ा। वे बालवय में ही अलौकिक ज्ञानगंज के योगियों द्वारा ज्ञानगंज आकाशमार्ग से लाये गए। सिद्ध योगियों की अनवरत तपस्या के संचित फल रूपी

ज्ञान-विज्ञान-कर्मशक्ति, ज्ञानशक्ति एवं इच्छाशक्ति को उन्होंने थोड़े ही समय में निजस्व कर लिया । सर्वसम्पन्न होकर परमहंसगणों की प्रेरणा के फलस्वरूप श्री श्री बाबा ने लोकालय में प्रवेश किया एवं क्रम से गुरुपद में प्रतिष्ठित हुए ।

श्री श्री विशुद्धानन्द का अवतरण किसी धर्म की स्थापना अथवा साधु समाज के परित्राण के लिए नहीं हुआ था । ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो उनका आविर्भाव उस तत्व विज्ञान का संसार में प्रकाश करना था जिसे महात्मा गौतम बुद्ध ने अनुभव किया था, किन्तु उच्चतर प्रकिया आयत्त न होने के कारण उसे प्राप्त न कर सके थे । वह (बुद्ध) जानना चाहते थे कि दुःख, कष्ट, रोग, जरा, व्याधि तथा मृत्यु का रहस्य क्या है ? तथा जीव (मनुष्य) इससे मुक्त कैसे हो सकता है ? दुःख और मृत्यु के रहस्य का आभास तो महात्मा बुद्ध को मिला किन्तु एक व्यक्ति की उपलब्धि से सार्वभौमिक जीवों के दुःख निवारण की कोई युक्ति उपलब्ध नहीं हो सकी । तभी से आध्यात्मिक जगत में महान योगिगणों द्वारा नये-नये आयामों की खोज प्रारम्भ हुई, जिसके फलस्वरूप ही श्री श्री बाबा विशुद्धानन्द का आविर्भाव हुआ ।

महामनस्वी श्री कविराज जी के अनुसार श्री बाबा एवं साधारण देहधारी में अनेक पार्थक्य है । जिस कर्म के लिए उन्होंने नर देह धारण किया है, वह साधारण कर्म नहीं । योगी, ऋषि, सिद्ध, तापस आदि से उनका कर्म सर्वांश में विलक्षण है । वे समस्त जगत के पूर्ण अधिष्ठाता रूप हैं, यद्यपि अभी तक जगत ने उनकी इस रूप में उपलब्धि नहीं की है । समस्त लोक-लोकान्तर में समष्टि रूप विराट को आयत्त करके सबको विराट का अंश प्रदान करना, विशुद्ध सत्ता के आविर्भाव का लक्ष्य है । सूर्य विज्ञान (चिरस्थायी विज्ञान) की जगत में प्रतिष्ठा द्वारा उनका कर्म सफल होगा । उन्होंने इस अखण्ड महायोग के प्रचार एवं उसे कार्य में परिणत करने के लिए नरदेह का वरण किया था । वे एक ऐसे कर्म सम्पादन हेतु अवतरित हुए, जो सृष्टिकाल से आज पर्यन्त कभी प्रकाशित या कल्पित नहीं हो सका । जब श्री श्री बाबा देही अवस्था में इस लोक में दृष्टिगोचर थे, तब कथा प्रसंग में कहा करते थे, ''ज्ञानगंज विश्व सृष्टि की परावस्था है और जिस कर्म को करने की इच्छा कर रहा हूं, वह आज से पहले कभी जगत में प्रकाशित ही नहीं हुआ है । देवता की महिमा साक्षात् भाव में देवलोक में ही आवद्ध है । किन्तु इस महाकर्म की पूर्णता द्वारा मरलोक की महिमा चिरस्थायी होगी । यहीं, मरदेह के गौरव और महिमा को परम देवता द्वारा अंगीकृत करके, उन्हें भी पूर्णत्व लाभ के पथ पर अग्रसर होना पड़ेगा । विश्व में प्रकृत कर्म का प्रारम्भ अभी भी नहीं हुआ । मरदेह के अतिरिक्त (कर्म भूमि के जीव के अतिरिक्त) देवताओं को भी कर्म का अधिकार नहीं । दुःख है मनुष्य अधिकारी होने पर भी कर्म करने में समर्थ नहीं । कारण–किसी ने प्रकृत मनुष्यत्व की प्राप्ति नहीं की । मनुष्यत्व प्राप्ति के पश्चात् विज्ञान का उदय होगा एवं सन्तानगण निश्चिन्त मन से कार्यरत होंगे । तब योगक्षेम की चिन्ता नहीं रहेगी । उस समय समस्त जागतिक अभाव की पूर्ति हेतु विज्ञान का द्वार समस्त अधिकारी सन्तानों के लिए खुल जायगा । समस्त जरा-मृत्यु आदि दैहिक विकार, काम, क्रोधादि मानसिक विकार अपगत होंगे । उस महाकर्म में प्रवृत्त होने के लिए किसी को कोई प्रतिबन्ध नहीं होगा । मनुष्य के अतिरिक्त किसी के लिए इस महाकर्म साध्य वस्तु की प्राप्ति सम्भव नहीं । मनुष्य के जीवन से यावतीय बाधा अपसारित कर, मनुष्य को प्रकृत मनुष्य रूप में परिणत करना, एवं इस महापथ पर चालित करना आवश्यक है ।''

श्री श्री विशुद्धानन्द ने मरदेह में अवस्थित हो चिरकाल तक साधना की । उनका लक्ष्य था—किस प्रकार मरदेह मृत्यु वर्जित होकर चिदानन्दमय नित्यदेह में परिणत हो सके । उन्होंने मनुष्यत्व की साधना की । अतः उनके लिए मनुष्यत्व साध्य था । उनके अन्तर की कामना थी,—मनुष्य विज्ञान पथ पर अग्रसर होकर

अन्त में विज्ञान स्वरूप में अवस्थित हो । विज्ञान का पथ ही एकमात्र पथ है––जिस पर चलकर क्षण एवं महाप्राण की प्राप्ति होगी । विज्ञान एवं उसका उपाय स्वरूप ज्ञान मनुष्य मात्र की प्राप्य सम्पदा है ।

श्री श्री विशुद्धानन्द परमहंस देव ने प्रयोजन वश अपने स्थूल शरीर का संकोच किया था, उनका कर्म शरीर आज भी वैसा ही है, वे सिर्फ लोक दृष्टि से छिपे हैं । उन्हें प्रतीक्षा है मनुष्यों में उचित आधार हेतु कुछ अवशिष्ट कर्म की । यह अवशिष्ट कर्म ही माँ की पुकार है । श्री श्री बाबा के महा उद्देश्य को कार्यरूप में परिणत करने के उद्देश्य से सभी सन्तानों को यथाशक्ति जीवित मातृ शक्ति की मातृ रूप से धारणा करना, उन्हें पुकारना और मातृज्ञान आवश्यक है । निकट भविष्य में ही यह कर्म शेष होने को है और तब वे पुनः स्थूल शरीर में आत्मप्रकाश करेंगे । श्री बाबा जीवों के उपासक थे । वे जीवों के कल्याणार्थ मनुष्यों के दुःख आदि को सदा के लिए निवृत्त करने हेतु कृत संकल्प हैं । "एक की मुक्ति से सर्व की मुक्ति" को संसार में चरितार्थ करने हेतु वचनवद्ध हैं ।

★

आरती

(श्री गुरुदेव भगवान)

ओ३म जय जय गुरु देवा, स्वामी जय जय गुरुदेवा ।
जय गुरुदेव दयानिधि दीनन हितकारी, स्वामी दीनन हितकारी ।
जय जय मोह बिनाशन, जय जय मोह बिनाशन भव बंधन हारी ॥ ओ३म जय जय गुरुदेवा ।

ब्रह्मा विष्णु सदाशिव, गुरु मूरतिधारी, स्वामी गुरु मूरति धारी ।
वेद पुरान बखानत, वेद पुरान बखानत, गुरु महिमा भारी ॥ ओ३म जय जय गुरुदेवा ।

जप तप तीरथ संयम दान विविध दीन्हें, स्वामी दान विविध दीन्हें ।
गुरु बिन ज्ञान न होवे, गुरु बिन ज्ञान न होवे कोटि जतन कीन्हें ॥ ओ३म जय जय गुरुदेवा ।

माया मोह नदी जल जीव बहे सारे, स्वामी जीव बहे सारे ।
नाम जहाज बिठाकर, नाम जहाज बिठाकर गुरु पल में तारें ॥ ओ३म जय जय गुरुदेवा ।

काम क्रोध मद मत्सर चोर बड़े भारी, स्वामी चोर बड़े भारी ।
ज्ञान खड्ग दे कर में, ज्ञान खड्ग दे कर में गुरु सब संहारी ॥ ओ३म जय जय गुरुदेवा ।

नाना पंथ जगत में निज निज गुण गावे, स्वामी निज निज गुण गावें ।
सबका सार बताकर, सबका सार बताकर, गुरु मारग लावें ॥ ओ३म जय जय गुरुदेवा ।

गुरु चरणामृत निर्मल सब पातक हारी, स्वामी सब पातक हारी ।
बचन सुनत तम नाशै, बचन सुनत तम नाशै सब संशय टारी ॥ ओ३म जय जय गुरुदेवा ।

तन मन धन सब अर्पण गुरु चरनन कीजें, स्वामी गुरु चरनन कीजे ।
ब्रह्मानन्द परमपद, ब्रह्मानन्द परमपद मोक्ष गती लीजै ॥ ओ३म जय जय गुरुदेवा ।

मनुष्यत्व का अवतरण

–श्री एल० एम० मिश्र लखनऊ

भारतवर्ष युग-युगान्तरों से अवतार भूमि के रूप में विश्व में अग्रगण्य रहा है। इस अवतरण व्यापार का प्रयोजन समग्र मानवता का कल्याण साधन तथा उनकी आर्ति दूर करना रहा है। "यदा यदाहि धर्मस्य ... सम्भवामि युगे युगे" (गीता अ० ४/७८) श्लोकों में भी यही ध्वनित होता है। कच्छ, मच्छ, वाराह नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण तथा बुद्ध का अवतार युग-युगान्तरों की स्थिति, आवश्यकता एवं प्रयोजनीयता पर आधारित प्रतीत होता है। इन अवतारों के क्रम का सूक्ष्म विवेचन करने पर इनमें परस्पर क्रमिक विकास की धारा स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। इससे सृष्टि-बिकास क्रम की धारा स्पष्टतया परिलक्षित होती है। वस्तुतः यदि सूक्ष्म विवेचन किया जाय तो इन सारे अवतारों का क्रम मनुष्य का ही विकास क्रम (देही रूप में या वाह्यतः) है। माँ के गर्भ में शिशु की ९ महीनों की स्थिति में प्रत्येक मास में उसकी कच्छ, मच्छ आदि रूपों से उत्तरोत्तर विकास की नौ स्थितियाँ ही ये अवतार हैं। सृष्टि के क्रमिक विकास की यह धारा मानव का वाह्य विकास ही है। मनुष्य का वाह्यय विकास चरम पर पहुंचा है, यह सत्य है। परन्तु प्रकृति के कठोर नियम "जातस्य मरणं ध्रुवं" इस सत्य को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता। विश्व की नवीनतम स्थिति इन दोनों सत्य कथनों की पुष्टि करती है। भौतिक विकास के चरम पर पहुँचे मनुष्य ने वैनाशिक आणविक शस्त्रों की वलिवेदी पर ही विश्व को प्रतिष्ठित नहीं किया है वरन् आकाश में अपने शस्त्रागार बनाने की होड़ में विनाश का छत्र भी तैयार कर रहा है। परिणाम क्या होगा ? एक बार सोचकर हृदय कॉप उठता है। सभी विचारवान, शान्तिप्रिय देश आवाजें दे रहे हैं "आणविक शस्त्रों की होड़ बन्द करो" परन्तु कौन सुनता है ? मनुष्य ऐसा करता ही क्यों है ? समूची मानवता को विनाश के कगार पर मनुष्य ने ही तो लाकर खड़ा कर दिया, आखिर क्यों ? इसका निदान क्या है ? मनुष्य की रक्षा का उपाय क्या है ? क्या होड़ बन्द कर देना ही उपाय है ? तो इन बने हुए आणविक शस्त्रागारों का परिणाम क्या होगा ? इन सभी प्रश्नों का उत्तर विश्व में कौन देगा ? विश्व मानव मौन है इन प्रश्नों का उत्तर देने में। परन्तु जब-जब भी ऐसे संकट के क्षण विश्ब में आए हैं, धन्य है भारत की माटी! जिसने दिव्य मनीषियों, योगियों को प्रकट किया है, जिन्होंने पूर्ब में ही इनका उत्तर ही नहीं ढूँढ़ रखा है वरन् मानवता की रक्षा का उपाय भी बताया है।

"मनुष्य को मनुष्यत्व प्राप्त करना होगा। मनुष्य आकृति से मनुष्य होने पर भी प्रकृत मनुष्य नहीं है। अतः उसे वास्तविक मनुष्य बनना होगा" ये शब्द हैं, युग-दृष्टा महातन्त्रयोगी पूज्यचरण महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथजी कविराज के, जिनके हृदय में मनावता के लिए

महाकरुणा का श्रोत सतत् प्रवाहित रहा। अखण्ड महायोग के प्रणेता पूज्य कविराज जी अन्यत्र कहते हैं :-

"जब महाकाल ही काल-ग्रसन को उद्यत होंगे तब काल के साथ-साथ कालगर्भ स्थित समस्त संसार महाकाल में लीन हो जायेगा। मनुष्य काल के अन्तर्गत है। अतः उसे अपनी आत्मरक्षा का उपाय ग्रहण करना आवश्यक है। **मनुष्य में आत्मरक्षा करने योग्य शक्ति है।** अन्य जीव जन्तु में यह शक्ति नहीं है। जीव जगत में एक मात्र मनुष्य में चैतन्य शक्ति है। अतः मनुष्य मात्र को आमन्त्रण दे रहा हूँ। "माँ" पुकारने का अधिकार प्रत्येक को है। अतः पहले से ही इस स्वभावसिद्ध अधिकार की उपलब्धि करना एवं "माँ" को पुकारना आवश्यक है। "माँ" ने "मै हूँ" कहकर सन्तान को अभय दान दिया है। किन्तु सन्तान ही "माँ" को पुकारने के लिए प्रस्तुत नहीं, तब सन्तानत्व का निदर्शन नही रहेगा। उस समय मनुष्य के लिए आत्म-संरक्षण कठिन होगा।" इन सभी प्रश्नों के उपाय, प्रथमतः शिशु भावापन्न होकर "माँ" को पुकारना तथा दूसरा मनुष्याकृति में मनुष्यत्व का विकास मात्र इन प्रश्नों का समाधान ही नही अपितु मानव मात्र के लिए ऐसी दिशा का निर्देश करते हैं, जिस लक्ष्य को प्राप्त कर लेने पर फिर कुछ पाना शेष नहीं रहता।

अपने गुरू परमाराध्य योगिराजाधिराज श्री श्री विशुद्धानन्द परमहंसदेव जिन्हें, सूर्य विज्ञान आयत्त था तथा जिसका प्रदर्शन प्रत्यक्षतः लोकालय में उन्होंने जनसाधारण के सम्मुख किया, से दीक्षा प्राप्त कर उनकी कृपा से बली एवं प्रेरणा के वशीभूत होकर जिस महान "कालनाशक कर्म" का सूत्रपात करके यथाविधि पूर्ण किया, वह स्वंय प्रमाण है उनके हृदयस्थ सम्पूर्ण मानवता के प्रति उनके अगाध प्रेम एवं करुणा का। यह कर्म समूची मानवता के कल्याण साधन के लिए सत्रह-सत्रह महीनें के तीन चरणों में सम्पन्न हुआ। प्रत्येक चरण में जिन विभिन्न कठोर नियमों का पालन करते हुए, विश्व की समग्र मानवता के कल्याणार्थ परम वस्तु आयत्त की जा सकी उस सन्दर्भ में अपने अखण्ड महायोग ग्रन्थ में स्वयं कविराज जी लिखते हैं :-

"यह अत्यन्त कठिन कर्म है। उस स्थिति में सूक्ष्म देह धारण, स्थूल में प्रविष्टि, स्थूल-सूक्ष्म के भेदाभेद का ग्रहण एवं विश्व भेदाभेद शक्ति को आयत्त करना सम्भव होता है। यह अन्यन्त जटिल कर्म है। परन्तु इसकी परिसमाप्ति आवश्यक है। अन्यथा ज्ञानातीत भूमि में संचार असम्भव है। जिस प्रकार साधारण मनुष्य जीवन यापन करता है, उस प्रकार की विधि द्वारा इस दुरुह कर्म का उद्यापन असम्भव है। इस कर्म के सम्पादन काल में इस संसार का अन्न, जल, वायु प्रभृति एवं निद्रा, घृणा, लज्जा, अभिमान, अपमान प्रभृति वृत्ति का सर्व प्रकार से वर्जन करना होता है।"

कोटि-कोटि प्रणाम है ऐसे युग पुरुष के श्रीचरणों में, जिन्होंने मानवता के लिए सम्पूर्ण जीवन समर्पित करके, उसके परम कल्याणार्थ "मनुष्यत्व" प्राप्ति का पथ निर्देशित किया तथा

समष्टि के लिए वह परम वस्तु आयत्त की । अब शेष है माँ को पुकार कर उससे युक्त होना। मनुष्याकृति में मनुष्यत्व के विकास का कितना महत्व है, श्री कविराज जी के ही शब्दों में :–

"समग्र जगत साधारणतः प्राण अथवा चैतन्य को सर्वोच्च स्थान देता है । सभी किसी न किसी प्रकार से चैतन्य के उपासक हैं । किन्तु चैतन्य (प्राण) वास्तविक वस्तु नहीं है । **स्वभाव, मनुष्यत्व एवं मन** ये तीनों नरदेहस्थ विशिष्ट वस्तु हैं ।"

देखा नहीं परन्तु श्री गुरुदेव "दादा" सीताराम जी से एकान्तिक वार्ता में सुना है, पूज्य कविराज जी के उस मादक स्नेह एवं अहैतुकी करुणा एवं कृपा की बातें, जिसे सुनाते हुए श्री गुरु देव के नेत्र सजल एवं कण्ठ रुद्ध हो जाता है । साश्रुनयन गुरुदेव बताते हैं कि "जितने प्यार के साथ यह साधना मुझे मिली है तुम लोग उस प्यार की कल्पना नहीं कर सकोगे ।" निश्चय ही अपने इसी स्वभाव की ही प्रेरणा से यह महाकर्म उन्होंने सम्पन्न किया होगा । "परहित बस जिनके मन माँही। तिन्ह कहँ जग कछु दुर्लभ नाहीं ।।" इस महाकर्म की पूर्णता पर श्री कविराज जी के ही शब्दों में, "शरद पूर्णिमा के परवर्ती कर्म का उद्देश्य था मन को उन्मुक्त कर उसका निजस्व रूप में आयत्तीकरण । इस वशीभूत निजस्व मन की सहायता से, मनोमयी महाशक्ति " माँ " का द्वार खुल गया । अब बाकी है माँ पुकार कर माँ को ग्रहण करना ।"

: : : : :

मनुष्यत्व प्राप्ति की प्रयोजनीयता पर बल देते हुए श्री कविराज जी लिखते हैं, "ज्ञानी, भक्त, कर्मी प्रभृति के अभिनय में जीव ने बहुत समय व्यर्थ किया है। इस समस्त अभिनय से शान्ति अथवा आनन्द प्राप्त करने में वह असमर्थ है । उसे मनुष्यत्व तक का वर्जन करना पड़ा । मनुष्य योनि में प्रस्तुत होने पर मनुष्यत्व प्राप्ति उसका जन्म सिद्ध अधिकार है । आज मनुष्य अपने जन्म सिद्ध अधिकार से भी वंचित है । एक मात्र मनुष्य देह में मन का अस्तित्व है। परन्तु वह मन भी शुद्ध मन नहीं । अतः साधारण मनुष्य को यथार्थ मन विकास के अभाव में पशु संज्ञा दी जाती है । ज्ञान के उदय से पशु भाव निवृत होगा ।"

"आत्म-बोध ही प्रकृत मनुष्यत्व है। इसकी सम्प्राप्ति हेतु देवगण नरदेह धारण करते हैं । मनुप्य देह धारण करने पर भी मनुष्योचित दिव्य लक्ष्य के अभाव में सारा जीवन व्यर्थ जा रहा है । "ऐहिक मान-मर्यादा, धन, जन, यश, प्रतिष्ठा, ज्ञान, भक्ति आदि अलीक स्वप्नमात्र रूप प्रतीत हो रहे हैं । ये सब मृत्यु के कराल ग्रास में ध्वस्त हो जाते हैं । समय रहते ही अपने जन्म सिद्ध अधिकार मनुष्यत्व की प्राप्ति कर लेनी है । जो जिस सम्प्रदाय के अनुयायी हैं, वे अपने सम्प्रदाय में रहकर ही माँ को पुकार सकते हैं । किसी भी उपासना धारा के साथ अखण्ड मातृसत्ता का विरोध नहीं है । शिशु भावापन्न माँ की पुकार सर्वश्रेष्ठ है । शिशु के लिए माँ की प्राप्ति का उपाय सहज है । इनको पुकारने में कोई भी तनिक भी लेशमात्र भी संकोच न करे । यहाँ

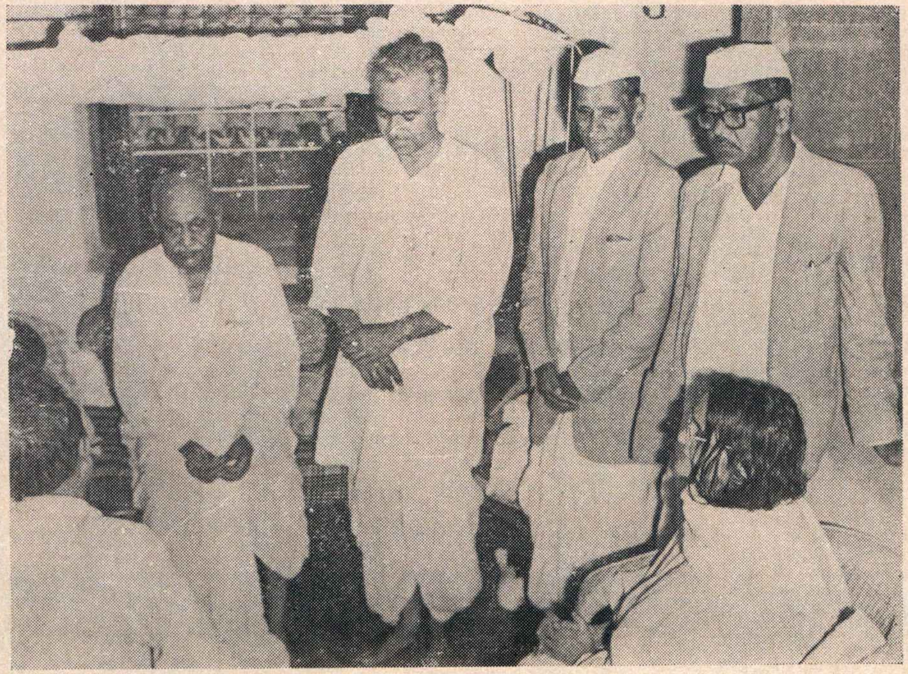
शाक्त-वैष्णव का कोई विरोध नहीं। इस स्थान पर शिशु भाव का निर्देश है, जहाँ सारे भेद अस्तमित हैं।"

"विश्व में सभी को एक समय माँ कहकर पुकारना होगा। मनुष्य की महामन्डली (Federation of Mankind) को इस महाकर्म में योग देना होगा। विश्व पूर्णत्व लाभ के पथ पर चल रहा है, कोई भी इसमें गतिरोध नहीं कर सकता। इस महाकर्म से पृथक रहना मनुष्य मात्र के लिए असम्भव है। विज्ञानावतरण (सूर्य विज्ञान) न होने तक प्रत्येक मानव को प्रत्येक केन्द्र से "माँ" ध्वनि उत्थित करनी होगी। स्वेच्छा से पुकारना अपने लिए मंगलमय होगा। जो अवश्यम्भावी है उसका गतिरोध कोई भी नहीं कर सकता।" साधुमना कविराज जी के ही उपरोक्त शब्दों से लेखनी को विराम देता हूँ। ।। जय माँ ।।

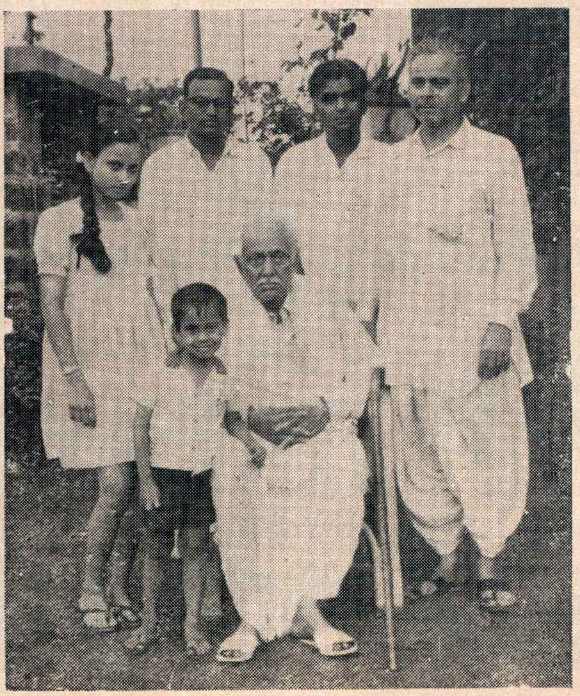
ॐ माँ

शत-शत बन्दन

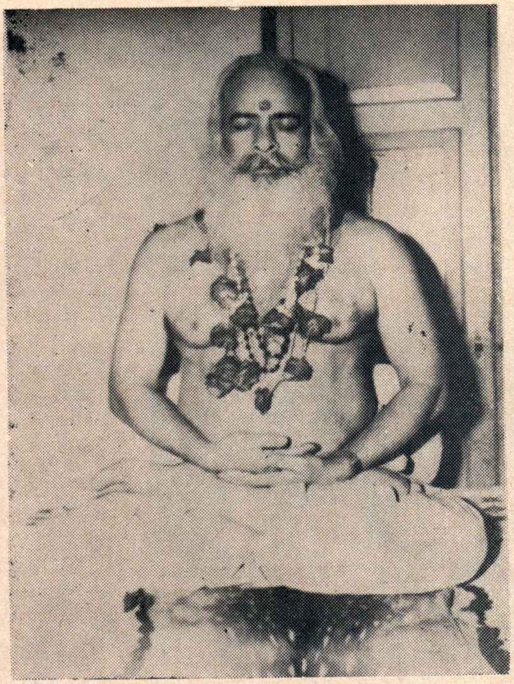
गुरू चरणों को शत-शत बन्दन, शत-शत बन्दन।
पावन शताब्दि की बेला में, श्री श्री बाबा को शत बन्दन ।।
जो परमयोगिराजाधिराज, कविराज गुरू के महा गुरू-
जीवोद्धारक उन परमहंसमहाराजदेव को शत बन्दन।
है पूज्यपाद कविराजमहा अरु परमपूज्य दादाजी के,
अति पावन चरणों को बन्दन, शत-शत बन्दन, शत-शत बन्दन ।।



श्री कविराजजी तथा दादा सीताराम, मां आनन्दमयी के साथ



श्री कविराजजी, दादाजी तथा अन्य भक्त



श्री दादा जी ध्यान मुद्रा में



ध्यान कक्ष, अखण्ड महायोग संस्थान, लखनऊ



अखण्ड ध्यान में भाग लेने वाले साधकों के मध्य श्री दादा जी

अखण्ड–ध्यान

श्री जनार्दन प्रसाद श्रीवास्तव

किसी कार्य के सम्पादन के पीछे सर्वप्रथम लक्ष्य का निर्धारण किया जाता है। उस लक्ष्य की दिशा में अग्रसरित होना कर्म है। उस कर्म में एकतानता या तन्मयता रखना ही ध्यान कहलाता है। जीवन के प्रत्येक पहलू में मनुष्य के द्वारा किए गए कर्म में यह तीन बातें सदैव विद्यमान रहती हैं। जैसे विद्यार्थी के लिए विद्या प्राप्ति लक्ष्य है, उसके हेतु अध्ययन कर्म है, लक्ष्य और कर्म के मध्य तन्मयता ही कर्म को एक दिन लक्ष्य में परिवर्तित कर देती है। आध्यात्मिक क्षेत्र में आत्म साक्षात्कार रूप लक्ष्य की प्राप्ति हेतु भी इन तीनों का प्रयोजन है जिसके लिए शास्त्रीय शब्द धारणा, ध्यान एवं समाधि क्रमशः कर्म, तन्मयता तथा लक्ष्य ही है। स्मरण रखना होगा कि लक्ष्य के अनुरूप यदि धारणा का निर्धारण नहीं हुआ तो अभीष्ट प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। अतः प्रारम्भ में धारणा का निर्धारण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। महर्षि पातञ्जलि ने योग के आठ अङ्ग बताए हैं – यथा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान, समाधि (सा० पा० सूत्र २९)। इनमें से अन्तिम तीन धारणा, ध्यान तथा समाधि (त्रयन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः वि० पाद सूत्र ७) को अन्तरङ्ग बताया है। इस प्रकार यदि देखें तो किसी भी क्षेत्र में लक्ष्य प्राप्त करने की धारणा और लक्ष्य का योगस्थापन मध्य की कड़ी ध्यान द्वारा ही होता है, मानो दोनों के बीच ध्यान सेतु का कार्य करता है। इसी ध्यान (लक्ष्य के प्रति एकतानता **Watchful awareness**) की अहोरात्र एकतानता अखण्ड-ध्यान है। अखण्डता का अर्थ है अविच्छिन्नता।

अखण्ड कीर्त्तन, अखण्ड पाठ, अखण्ड जप इत्यादि से सभी परिचित हैं। अखण्ड-ध्यान के बारे में कदाचित् पहली ही बार सुना गया है। वस्तुतः यह एक अभिनव एवं नवीनतम प्रयोग है। अखण्ड महायोग संस्थान के तत्वावधान में पूज्य श्री चरण गुरूदेव "दादा" सीताराम जी की उपस्थिति में दिनाङ्क २७ अक्टूबर १९८१ की सन्ध्या ५-३० बजे से प्रारम्भ करके, २९ अक्टूबर १९८१ को प्रातः ६-३५ पर समापित किया गया। इस अखण्ड ध्यान-साधना में लखनऊ के अनेक साधकों के अतिरिक्त वाराणसी के भी कुछ साधक सम्मिलित हुए। साधकों में परस्पर एक ही भाव अक्षुण्ण रहा कि सभी सबके लिए साधनारत हैं। इन एक-निष्ठ, एक भावापन्न साधकों को श्री गुरूदेव द्वारा एक ही प्रकार की धारणा तथा स्तर से युक्त करके उसी गुरूशक्ति में बोध स्थित रखने को बताया गया। इस ध्यान से कोई यह अर्थ न लगावे कि कुछ करना होता है। करना तो विश्व में होता है। वस्तुतः करना यही है कि करने का अभ्यास जो पड़ा हुआ है, वह छूट जाय और जैसे ही साधक का यह अभ्यास छूटता है फिर वह अन्तर्मुखी दिशा में प्रविष्ट हो

जाता है और फिर वहाँ 'होता है' करना नहीं है। गुरु-प्रदत्त शक्ति स्वयं साधक को लेकर चलने लगती है, जैसे शिशु मां की गोद में स्थित होकर जहां-जहां मां जाती है, सर्वत्र हो आता है—यह भी अनेक अंशों में वैसा ही है।

ज्योतिष के सिद्धान्तानुसार पृथ्वी सूर्य की एक परिक्रमा वर्ष में कर लेती है और क्रमशः इस गति के कारण बारह राशियां, द्वादश मास, षड् ऋतुयें आती हैं तथा सूर्य फिर उसी स्थान पर आ जाता है। सूर्य तुला राशि के १० अंशों पर नीच का तथा मेष पर उन्हीं अंशों पर उच्च का होता है। इन नीच व उच्च राशियों की एक मध्यावस्था मकर राशि है, जिस पर सूर्य रश्मि पड़ने तथा संक्रमण होने का बहुत बड़ा माहात्म्य है। ऐसी दशा में त्रिवेणी में डुबकी लगाने, मज्जन करने का माहात्म्य कीर्तित है यथा :—

"माघ मकर गत रवि जब होई। तीरथ पतिहिं आव सब कोई॥
देव दनुज किन्नर नर श्रेनी। सादर मज्जहिं सकल त्रिवेनी॥"

(मकर राशि का संक्रमण कर सूर्य जब उत्तरायण पथ पर अग्रसरित होता है तो तीर्थराज प्रयाग में त्रिवेणी में स्नान करने का माहात्म्य कीर्तित है तभी तो देवता, दानव, किन्नर, मनुष्य सभी त्रिवेणी में आदर पूर्वक स्नान करते हैं। वस्तुतः यह आत्म-शक्ति का उत्तरायण पथ ही शक्ति की अन्तर्मुखीन अवस्था है। मकर के दक्षिण स्थित सूर्य जब उत्तरायण पथ पर बढ़ता है, यही शक्ति का सुषुम्ना मध्य से उर्ध्वगामी होना है और आज्ञाचक्र के ऊपर पहुंच कर त्रिवेणी में अवगाहन सोम में स्थिति है।)

सूर्य की नीचावस्था, मध्यावस्था एवं उच्चावस्था काल चक्र का एक वर्ष है। जिस रीति से एक दिन और एक रात्रि मिलकर अहोरात्र रूप (२४ घण्टे या अधिक) एक भाव के अधिष्ठान बनते हैं, उसी रीति से सूर्य की इन तीनों अवस्थाओं को एक वर्ष का, एक भाव का अधिष्ठान बनाया जा सकता है। इसी दृष्टिकोण को रखकर जिस अखण्ड ध्यान का शुभारम्भ २७ अक्टूबर को किया गया था तथा उसकी उपलब्धियों से प्रेरणा और उत्साह पाकर, उसे शेष और दो चरणों में क्रमशः २३ जनवरी तथा २३ अप्रैल १९८२ को २७ तथा ३१ घण्टों का किया गया। सभी साधकों ने पूर्ण उत्साह, मनोयोग तथा एकनिष्ठता का परिचय शेष दो चरणों में भी दिया जिससे स्पष्ट है कि इस प्रकार के आयोजन से निश्चित रूप से सभी लाभान्वित हुये हैं।

इस प्रकार के आयोजनों के सन्दर्भ में महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ जी कविराज कहते हैं :—

"एक महाशक्ति के इशारे से बहुत से साधकों के सम्मिलित प्रयत्न से उस अहोरात्र व्यापी एक अविच्छिन्न भाव का उदय अपेक्षाकृत सहज होता है, यदि उन विशेषतः निर्दिष्ट

समय खण्डों में परस्पर व्यवधान न रहे। अर्थात् एक व्यक्ति के द्वारा न होने पर भी बहुत से व्यक्तियों के सामूहिक उद्योग से रात दिन का समग्र समय पूरा होना आवश्यक है। इससे सब कर्मरत साधकों की शक्तियों को परस्पर मिलकर परस्पर के ऊपर कार्य करने का अवसर मिल सकता है, जिससे प्रत्येक ही कम उद्यम से अधिक फलभागी बनने में समर्थ होते हैं। ऐसा होना असम्भव नहीं है; क्योंकि सबकी आत्मा के मूल में एक ही महाशक्ति की प्रेरणा कार्य कर रही है।"

पूज्य कविराज जी के इन वाक्यों को हम साधकों ने तीनों चरणों की साधनाओं में प्रत्यक्ष अनुभव किया। गुरु-प्रदत्त शक्ति का विकास आधारगत तारतम्यानुसार सभी में पूर्ण भावेन हुआ। सत्ता इसी शक्ति के पीछे ही होती है यह स्मरण रखना होगा। जब तक साधक में शक्ति का परिपूर्ण विकास होकर साधक का बलाधान नहीं हो जाता तब तक मां स्वरूपा गुरुशक्ति साधक को अपनी गोद में ही रखती है। इसीलिये कहा गया है: "नायम् आत्मा बलहीनेन लभ्यः।"

आत्मसत्ता की प्राप्ति के लिए आत्मशक्ति का विकास आवश्यक है, यह आत्मशक्ति ही गुरु प्रदत्त शक्ति है, जिसे साधक की श्रद्धा के तारतम्यानुसार सद्गुरु प्रदान करते हैं। साधक की अनुदिन बढ़ने वाली श्रद्धा जब चरम विकास पर पहुंचती है तो साधक एक दिन अपने को पूर्ण समर्पित करता है श्री गुरु चरणों में। तत्क्षण उसकी श्रद्धा ही विश्वास स्वरूप मूर्तिमान हो उठती है। यही है श्रद्धा एवं श्रद्धास्पद का मिलन, शिव-शक्ति का सामरस्य, विश्वास स्वरूप शिवावस्था का उदय। साधक की यह श्रद्धा अपने में ही एक अडिग विश्वास को संजोये रहती है तथा उसके प्रति भक्ति का गम्भीर भाव भी अन्तः में विद्यमान रहता है। इस प्रकार श्रद्धा एवं कृपा का मिलन, कर्म एवं कृपा का मिलन होकर रहता है।

इस प्रकार से सभी साधक मात्र लाभान्वित होकर थोड़े ही उद्यम के द्वारा अधिक फलभागी हुये एवं निश्चय हुआ कि श्री गुरु जन्मोत्सव पर प्रति वर्ष अखण्ड ध्यान का आयोजन होता रहेगा। वाराणसी में भी श्री विद्या सागर जी शुक्ल तथा इन पंक्तियों के लेखक की प्रेरणा से कुछ साधकों ने 'अखण्ड ध्यान' का आयोजन किया तथा प्रत्येक ही लाभान्वित हुए। अभी विगत दिनों नवरात्र (बासंतीय) में १३ अप्रैल १९८६ को बम्बई उपकेन्द्र में भी अखण्ड ध्यान का आयोजन पूज्य गुरुदेव "दादा" सीताराम जी की उपस्थिति में हुआ। इसमें बम्बई महानगरी के दूर-दूर से आए हुए ८० साधकों ने भाग लिया। यह आयोजन गीताज्ञान योग केन्द्र सुन्दर बाग, मलाड (पश्चिम) के हाल में सम्पन्न हुआ। हाल के एक भाग को घेरकर पृथक किया गया था उसी में कलश स्थापन करके १५ से २० साधकों को एक बार में बैठकर ध्यान करने को मिला। इसमें बम्बई स्थित Holi Family चर्च से आई हुई दो महिलायें विशेष उल्लेख्य हैं। इन दोनों माताओं में अत्यधिक जिज्ञासा, उत्सुकता तथा उत्साह देखा गया। वैसे

सभी में ही उत्साह था, सभी शीघ्र ही दूसरी बार ध्यान में जाने की प्रतीक्षा में रहते थे। सभी को लगभग २-३ बार ध्यान में बैठने का अवसर भी प्राप्त हुआ था। पूरी रात जागकर साधना में अतिवाहित हो जाय, यह उस महाशक्ति की ही प्रेरणा है। अन्यत्र इसी अखण्ड ध्यान के सन्दर्भ में पूज्य कविराज जी लिखते हैं :–

"जिस महाशक्ति के इशारे से बहुत से साधक इस कर्म में प्रवृत्त होते हैं, उनका आदेश यथाशक्ति पालन कर सकने पर कम से कम सरल हृदय से उसका पालन करने की चेष्टा करने पर, महाकृपा के अवतरण का अनुभव अबश्यम्भावी है।"

अखण्ड ध्यान के अवसर पर पवित्र गंगाजल से पूर्ण ताम्र-कलश महाशक्ति (आत्मवत् सूर्य) के प्रतीक स्वरूप स्थापित किया जाता है, जो अखण्ड ध्यान में अहर्निश ज्योतिमान रहता है। इसी प्रतिष्ठित महाशक्ति के महाभाव से युक्त होकर उसके महाप्रकाश से साधक अनुप्राणित रहें जिससे यह कर्म अनेक साधकों का न होकर, साधकों के अन्तः स्थित जो एक ही शक्ति है, 'उस एक' का ही कर्म प्रवाहित रहे। सतत् सहजता एवं सजगता के साथ एक सामान्य बोध बना रहना आवश्यक है। क्योंकि इस साधना के अनुष्ठान में महाभाव से युक्त होकर, भावातीत के कर्म में समवेत होकर, महाशक्ति के अचल गोद में स्थिति प्राप्त करना ही ध्येय है। अतः अनेक होकर भी एक भाव पूरे अनुष्ठान के मध्य सदा सभी कर्मी साधकों का बना रहे, इस महत्वपूर्ण तथ्य के प्रति सजगता आवश्यक है। एक ही महाशक्ति का खेल अनेकों रूप में विभिन्न भाव रूप होकर, भिन्न-भिन्न स्वभाव बनकर लीला कर रहा है। अतः आत्म सूर्य स्वरूप प्रतिष्ठित महाशक्ति के अमृत कलश से सहज भावापन्न होकर हर क्षण की युक्तता अनिबार्य है। एक बार में हर साधक को ३५ मिनट ध्यानस्थ रहने का सुअवसर प्राप्त होता है तथा एक बार में कम से कम दो प्रकृत साधक अखण्ड ध्यान में भाग लेते हैं।

महामनस्वी तन्त्रयोगी पं० गोपीनाथ जी कविराज के 'अखण्ड भगवत् स्मृति' नामक लेख से प्रेरणा प्राप्त कर तथा पूज्यचरण योगिराज दादा सीताराम जी के आशीर्वाद के फल स्वरूप इस अनुष्ठान की महती उपादेयता सिद्ध हो गई है। अखण्ड महायोग संस्थान के द्वारा इस प्रकार के 'अखण्ड ध्यान' का अनुष्ठान इसके सभी उपकेन्द्रों में होता है तथा साधक इससे लाभान्वित होते हैं। संस्थान का प्रयास है कि इस प्रकार के आयोजन बृहत संख्या में हों, जिस हेतु संस्थान प्रयत्नशील है।

जय मां !!

—:०:—

तन्त्रशास्त्र के उद्धारक श्रद्धेय कविराजजी

–श्री वृजवल्लभ द्विवेदी

महामहोपाध्याय पद्मविभूषण डा० श्री श्री गोपीनाथ कविराज का जन्म पूर्व बंग, अब बंगलादेश, के अन्तर्गत ढ़ाका जिले के धामराई ग्राम में भाद्रपद २२ सौर बुधवार, १९४४ वि०, तदनुसार ७ सितम्बर, सन् १८८७ में हुआ था। बंगीय पंचांग के अनुसार माता आनन्दमयी के वाराणसी स्थित आश्रम में यह जन्म दिन ८ सितम्बर को मनाया जाता है। इनके परिवार, शिक्षा, अध्यवसाय, सर्वतोमुखी अनोखी प्रतिभा, ग्रन्थलेखन, राजकीय तथा सार्वजनिक सम्मान आदि की संक्षिप्त और विस्तृत जानकारी इनके 'तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि' नामक ग्रन्थ के प्रारम्भ में निवद्ध ग्रन्थकार परिचय से तथा 'मनीषी की लोकयात्रा' नामक ग्रन्थ से प्राप्त की जा सकती है।

श्रद्धेय कविराज जी के जीवन में क्रियापक्ष और भावपक्ष का अद्भुत समन्वय रहा है। क्रियापक्ष और भावपक्ष की व्याख्या हम उन्हीं के शब्दों में आगे देंगे। महायोगी श्री श्री विशुद्धानन्द परमहंस देव के सम्पर्क में आने से पहले उनके जीवन में क्रियापक्ष की प्रधानता थी और उसके बाद धीरे-धीरे क्रियापक्ष शिथिल होता गया और भावपक्ष प्रबल। इनके इन दोनों स्वरूपों का दर्शन हम उनकी कृतियों में कर सकते हैं। सरस्वती भवन स्टडीज के दस भागों, सरस्वती भवन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित पुस्तकों की भूमिकाओं, यू०पी० हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली जैसी शोध पत्रिकाओं में उनके पहले स्वरूप का और अखण्ड महायोग, श्री श्री विशुद्धानन्द प्रसंग, विशुद्धवाणी, साधुदर्शन और सत्प्रसंग, श्रीकृष्ण प्रसंग आदि ग्रन्थों में उनके दूसरे स्वरूप का दर्शन किया जा सकता है।

इस प्रसंग में यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि सरस्वती भवन ग्रन्थमाला में प्रकाशित अनेक ग्रन्थों की भूमिकाएं उन उन ग्रन्थों के सम्पादकों के लिए स्वयं श्री कविराज जी ने लिखकर उन्हीं के नाम से छपवा दी थीं। आधुनिक ग्रन्थ सम्पादन कला की एक विशेष त्रुटि की ओर वे अपने श्रोताओं का ध्यान सदा आकृष्ट करते रहे कि इसमें ग्रन्थ के बहिरंग पक्ष, ग्रन्थ और ग्रन्थकार तथा अन्य सामग्री का ऐतिहासिक विश्लेषण, पर ही अधिक विस्तार से विचार किया जाता है और ग्रन्थ का आन्तरिक पक्ष, उसमें प्रतिपादित विषय, अछूता रह जाता है। अतः उन्होंने अपनी कृतियों में इस द्वितीय पक्ष पर अधिक जोर दिया। उनका यह स्वरूप उनकी प्रारम्भिक सभी कृतियों में देखा जा सकता है। उनकी ऐतिहासिक विश्लेषण की शक्ति भी कितनी प्रखर थी, इसका दर्शन हम सरस्वती भवन स्टडीज और यू० पी० हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली आदि शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित उनके न्याय वैशेषिक साहित्य का ऐतिहासिक विवेचन, सांख्यमत, गोरक्षमत, पाशुपतमत, वीर शैव सिद्धान्त, गंगाराम जडी सम्बन्धी निबन्धों, विविध ग्रन्थों की भूमिकाओं और पुस्तकाकार में प्रकाशित उनके शाङ्कर वेदान्त और अद्वैत प्रस्थान, आदिगुरू दत्तात्रेय और अवधूत दर्शन, वैष्णव साधना और साहित्य, तन्त्र का स्वरूप, आविर्भाव और भेद आदि निबन्धों में देखा जा सकता है।

इन सभी निबन्धों में तथा अपने सन्दर्भ ग्रन्थ 'तान्त्रिक साहित्य' और उसकी भूमिका में श्रद्धेय कविराज जी ने आगम एवं तन्त्रशास्त्र में समाविष्ट सम्पूर्ण साहित्य का दार्शनिक एवं सांस्कृतिक स्वरूप प्रस्तुत किया है।

इससे इस साहित्य की विशालता और दार्शनिक गंभीरता का परिचय मिलता है। कविराजजी का यह निश्चित मत था कि परवर्ती अद्वैतवादी तान्त्रिक दर्शन ने शून्यवादी बौद्धदर्शन और मायावादी शांकर दर्शन की त्रुटियों का परिमार्जन कर भारतीय दर्शन को अलीकवाद से हटाकर यथार्थवाद के उच्च शिखर तक पहुंचाया था। महार्थ-मंजरीकार महेश्वरानन्द ने अपने ही ग्रन्थ की 'परिमल' टीका में इस विषय को अनेक मनोरंजक युक्तियों के सहारे प्रतिपादित किया है।

विगत ढ़ाई हजार वर्षों में विकसित यह यथार्थवादी साहित्य जाने क्यों भारतीय विद्वानों की दृष्टि में उपेक्षित हो गया, जिसके बिना हम न तो बौद्धधर्म की महायान शाखा के और न जैन तथा पौराणिक धर्म के विकास का ही यथार्थ स्वरूप जान सकते हैं। बौद्ध और जैन धर्म के स्वरूप को परिवर्तित करने में तथा पौराणिक धर्म की प्रतिष्ठा में आगमिक साहित्य के अवदान को समझने का प्रयास अभी तक नहीं किया गया है। इतना ही नहीं, पूरे देश में, उत्तर और दक्षिण में विकसित भक्ति साहित्य का, सिद्धों, नाथों और सन्तों के साहित्य का तथा सूफी सन्तों का भी अध्ययन आज वेदान्त दर्शन की विभिन्न शाखाओं की पृष्ठभूमि में तो किया जाता है, किन्तु अद्वैत वेदान्त को छोड़कर अन्य सभी आचार्यों का वेदान्ती दर्शन इन्हीं शैव और वैष्णव आगमों से प्रभावित था, इस विषय पर सर्वाधिक प्रकाश डालने वाले प्रथम व्यक्ति कविराजजी ही थे। अपने अनेक निबन्धों और प्रवचनों में उन्होंने विस्तार से समझाया है कि सूफी मत किस प्रकार अद्वैतवादी शांकर दर्शन की अपेक्षा शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन एवं अद्वैतवादी शाक्त दर्शन से अधिक प्रभावित है। वज्रयान, सहजयान और शाक्त दर्शन की विभिन्न धाराओं की अनुस्यूतता पर भी उन्होंने पर्याप्त प्रकाश डाला था। आज उनकी इन अवधारणाओं की पृष्ठ भूमि में पूरे भारतीय साहित्य के पुर्नमूल्यांकन की आवश्यकता है।

आगमिक तथा तान्त्रिक वाङ्०मय का सांस्कृतिक एवं दार्शनिक विवेचन ही कविराजजी को प्रिय था। कर्मकाण्ड की चर्चा में उन्होंने कभी रस नहीं लिया। जहां तक योग का प्रश्न है, व्यासभाष्य, विज्ञानभैरव और विरूपाक्षपंचाशिका—ये तीन ग्रन्थ उनको अत्यन्त प्रिय थे। इन ग्रन्थों को उन्होंने शताधिक शिष्यों को बड़े ही मनोयोग पूर्वक इनकी अथाह गंभीरता को उद्‌भावित करते हुए पढ़ाया था। उनका अखण्ड महायोग इसी मन्थन की चरम परिणति थी। उनका यह निश्चित मत था कि यह अखण्ड महायोग ही विश्व में शान्ति और सौहार्द की प्रतिष्ठा कर सकेगा, पूरे विश्व में अखण्ड एकता स्थापित कर सकेगा। हम उनके इस अखण्ड महायोग के स्वरूप पर आगे विचार करेंगे। पहले हम महामहोपाध्याय पी० बी० काणे द्वारा उठाई एक आपत्ति पर विचार करना चाहते हैं।

डा० काणे अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में लिखते हैं कि तान्त्रिक सिद्धान्तों एवं आचारों से सम्बद्ध इस अध्याय के अन्त में एक विचित्र बात की चर्चा कर देना आवश्यक है। सायण-माधव (१४वीं शताब्दी) ने सर्व-दर्शनसंग्रह नामक ग्रन्थ में पन्द्रह दर्शनों की चर्चा की है, किन्तु आश्चर्य की बात है कि इन लोगों ने तन्त्रों के विषय में एक शब्द भी नहीं लिखा, जबकि इन्होंने चार्वाक दर्शन एवं बौद्ध तथा जैन सिद्धान्तों पर पर्याप्त लिखा है। ऐसा मानना असम्भव है कि इन दो विद्वान भाइयों को तन्त्र के विषय में ज्ञात नहीं था। यदि कल्पना का सहारा लिया जाय, तो ऐसा कहा जा सकता है कि जिन कारणों से बंगाल के राजा बल्लालसेन ने अपने 'दान-सागर' में देवीपुराण को छोड़ दिया था, उन्हीं कारणों से संभवत: इन विद्वान भाइयों ने तन्त्रों की चर्चा नहीं की। इतना ही नहीं, तब तक तन्त्र ग्रन्थ समाज में पर्याप्त रूप से अरुचिकर हो चुके थे और विद्वान लोग उनका विरोध करने लगे थे। डा० पी० वी० काणे के इस आक्षेप का उत्तर हम 'आगम और तन्त्रशास्त्र' (पृ० २१-२२) नामक अपने ग्रन्थ में दे चुके हैं।

इस प्रसंग में श्रद्धेय कविराज जी का यह कथन विशेष रूप से अवधेय है—एक दृष्टिभंगी को मानने वाले के निकट दूसरी भंगिमा प्रावादुक की दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि के रूप में उपेक्षित या अनादृत होने पर भी निरपेक्ष ऐतिहासिक के लिए उपेक्षित होने योग्य नहीं है। इस अनुचित उपेक्षा के प्रभाव से ही बहुत सी दृष्टिभंगियों का परिचय लुप्त हो गया है, जो अब मिल नहीं रहा है। किसी-किसी दृष्टिभंगी का तो साधारण परिचय भी उपलब्ध नहीं है। उदाहरण के रूप में शाक्तदृष्टि की बात कही जा सकती है। सर्वदर्शनसमुच्चय आदि ग्रन्थों में, यहां तक कि सर्वदर्शनसंग्रह के सदृश बृहत् तथा प्रामाणिक ग्रन्थ में भी इस प्रकार की उपेक्षा का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उस समय शाक्त दृष्टि के प्रतिपादक ग्रन्थ या साधन परम्परा थी नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

सर्वदर्शनसंग्रहकार ने लकुलीश पाशुपत, शैव (द्वैतवादी), प्रत्यभिज्ञा और रसेश्वर दर्शन का विवरण दिया है। इन दर्शनों के प्रचारकाल में कश्मीर के शक्तिपारम्यवादी क्रमदर्शन का भी पर्याप्त प्रचार था। सायण-माधव आदि ने इनका परिचय क्यों नहीं दिया? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कविराज जी कहते हैं कि उसके सम्यक् प्रचार तथा पठन-पाठन का सौकर्य न रहने के कारण शाक्तदृष्टि के साथ विद्वत्समाज में भी अधिकांश लोगों का घनिष्ठ परिचय नहीं था। वस्तुतः इसीलिए वर्तमान युग में भी भारतीय दर्शन तथा चिन्तन के इतिहास-विषयक ग्रन्थों में यह अभाव समानरूप में ही लक्षित होता है। परन्तु आशा है भविष्य में इस अभाव की निवृत्ति हो जाएगी।

श्रद्धेय कविराज जी की यह भविष्यवाणी अब सत्य सिद्ध हो रही है और देश में ही नहीं, विदेशों में भी तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखाओं पर पर्याप्त अध्ययन हो रहा है। वस्तुतः बौद्ध तन्त्रों और शैव-शाक्त तन्त्रों ने भारतीय जनमानस को एक समान भूमि पर लाकर बैठा दिया था, जो कि सारी मानवता के लिये वरदान तुल्य था। कालचक्र की विपरीत गति के कारण निमीलित हुई उसी दृष्टि के उन्मीलन की आज आवश्यकता है, किन्तु दुःख इस बात का है कि प्राच्य और पाश्चात्य दृष्टि से भारतीय दर्शनों का अध्ययन करने वाले कुछ तथाकथित दार्शनिक आज भी आगमिक दर्शन को दर्शन की श्रेणी में बैठाने को तैयार नहीं हैं।

तान्त्रिक साहित्य अति विशाल है। इसके विषय में कविराजजी का कहना है कि इसमें तत्व (ज्ञान) का जैसा एक विभाग है, साधना का भी वैसा ही एक विभाग है। वस्तुतः चतुष्पाद आगम वाङ्‌मय में यह बात सर्वत्र ही लक्षित होती है। साधना में भी एक बहिरंग साधना और एक अन्तरंग साधना, इस प्रकार दो विभाग हैं। उसी प्रकार बहिरंग साधना में भी एक भाग में आचार भेद मूलक पार्थक्य है और दूसरे भाग में आचार से असंबद्ध आणव उपाय के विभिन्न अंशों का अवलम्बन कर भेद किया गया है। विभिन्न प्रकार की योग प्रक्रियायें इस द्वितीय विभाग के अन्तर्गत आती हैं। तत्व के विषय में भी उसी प्रकार द्वैत, द्वैताद्वैत, अद्वैत तथा परमाद्वैत, इस प्रकार का भेद है। एक दृष्टि से यद्यपि तान्त्रिक नाम से परिचित सभी शास्त्र एक श्रेणी के अन्तर्गत हैं, फिर भी उनमें भी भेद है, क्योंकि विभिन्न शास्त्रों में परस्पर उत्कर्ष और अपकर्ष का विचार भी प्रत्येक सम्प्रदाय के पक्ष से किया गया है। इस भेद के मूल में ज्ञानगत और क्रियागत वैलक्षण्य है। द्वैत, अद्वैत आदि जो भेद हैं, वह ज्ञानगत हैं। परन्तु आचारगत जो भेद हैं, वह क्रिया की बाह्यता या आन्तरिकता के भेद पर प्रतिष्ठित है। इन उभयपक्षों का श्रद्धेय कविराजजी ने "तान्त्रिक वाङ्‌मय में शाक्तदृष्टि" नामक ग्रन्थ में विशद विवेचन किया है।

उनका कहना है कि क्रमतत्व, स्पन्दतत्व, पादुकातत्व, भासातत्व प्रभृति का विवेचन साधना तथा दर्शनशास्त्र के क्षेत्र से एक प्रकार से निर्वासित हो चुका है। क्षोभ तथा कलन का रहस्य भी इसी प्रकार अपरिचित रह गया है। पादुकातत्त्व का विवेचन करते हुये वे कहते हैं कि परापरात्मक स्वात्मा की परानन्दमयी पराशक्ति जब अपने आप भेद-ग्रास करने के लिये उद्यत होती है, तब उसका पादुका नाम से वर्णन किया जाता है—

"परापरात्मनः स्वात्मनः परानन्दमयी स्वत्वतिरेककवलनोद्युक्ता परा शक्तिः पादुकेति गीयते"। वस्तुतः स्वात्मा से अभिन्न अनुत्तरस्वभाव नादशक्तिरूप विमर्श को ही गुरुतत्व जनाना चाहिये। इसको स्वरूपतः जानने के लिये पादुका ही एक मात्र उपाय है। क्रम का संकोच तथा प्रसार पादुका से ही होता है। योगी महेश्वरानन्द के पादुकोदय नामक ग्रन्थ में पादुकातत्व की किन्चित् आलोचना है।

शक्ति पारम्यवादी क्रम दर्शन का विश्लेषण करते हुए कविराज जी कहते हैं कि अति प्राचीन काल से क्रमतत्व की आलोचना होती आयी है। परन्तु यह ऐसा विषय है कि सर्वसाधारण की बुद्धि का गोचर नहीं हो सकता। पातंजल योगशास्त्र में इसका किन्चित् निदर्शन है। उसमें कहा गया है क्रम की अन्यता, अर्थात् भिन्नता से ही परिणाम की अन्यता या भिन्नता सिद्ध होती है। फिर काल भी वस्तुतः क्रम रूप ही है, क्योंकि वह क्षण का क्रम कहा गया है। क्षण वास्तविक है, परन्तु काल बौद्ध पदार्थ, अर्थात् बुद्धि से कल्पित है। क्षण के क्रम से ही बुद्धि में ज्ञान का उदय होता है। क्षण तथा उसके क्रम के ऊपर संयम करने से विवेकज ज्ञान का उदय होता है। कृतार्थता को प्राप्त गुह्यों के परिणाम-क्रम की समाप्ति धर्ममेध के अनन्तर होती है। जब तक भोग तथा अपवर्ग सिद्ध नहीं होते, तब तक यह नहीं हो सकती।

प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में क्षणिवादी बौद्धों के मत में भी क्रम की आलोचना होती थी तथा स्फोटवादी वैयाकरण समाज में थी। कश्मीर में जिस शैव सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ था, उसमें भी विशेषरूप से क्रम की चर्चा होती थी। क्रम सूत्र नामक एक ग्रन्थ का निर्देश मिलता है। जिसमें नित्योदित समाधि प्राप्ति का उपाय वर्णित है। उसमें क्रम मुद्रा का उपयोग दिखायी देता है। प्रसिद्धि है कि क्रम मुद्रा से बहिर्मुख साधक भी समावेश को प्राप्त होते हैं। क्रम मुद्रा की विशेषता यह है कि इसमें पहले बाहर से भीतर प्रवेश करना पड़ता है। तदनन्तर आवेश-सम्पन्न होने पर भीतर से बाहर प्रवेश किया जाता है। उसी प्रक्रिया से भीतर और बाहर बराबर हो जाता है, अर्थात् एक ही समय में पूर्णाहंता के साथ-साथ विषय का ग्रहण भी होता है। यह क्रममुद्रा वास्तव में चितिमुद्रा है, जो सृष्टि-स्थिति-संहार रूप संवित्-चक्र, अर्थात् क्रम को अधिष्ठित करती हुई उसे आत्मसात् कर लेती है। पराशक्ति की स्फुटता के साक्षात्कार से ही इस प्रकार समावेश हो सकता है। यह परम योगावस्था का निदर्शन है।

इस निबन्ध के प्रारम्भ में हम क्रियापक्ष और भावपक्ष की चर्चा कर चुके हैं। कविराजजी का कहना है कि साधना की दो दिशायें होती हैं—एक है क्रिया की दिशा और दूसरी है भाव की दिशा। इनमें भाव अन्तरंग है और क्रिया बहिरंग। अन्तर्निहित भाव को न समझने पर क्रिया व्यर्थ मालूम पड़ती है। उसी प्रकार क्रिया का त्याग करने से भाव में प्रवेश पाना असम्भव हो जाता है। दोनों ही सत्य हैं और दोनों ही आवश्यक। अतएव प्रत्येक साधना की पृष्ठभूमि में उसका सम्यक् उत्पादन करने के लिये उसके तत्व के दर्शन की आवश्यकता होती है। यह दर्शन खण्ड दृष्टि में सम्यग् दर्शन का रूप नहीं प्राप्त कर सकता, क्योंकि बिना अखण्ड या सामूहिक दृष्टि के खण्ड या अंश का तात्पर्य परिस्फुट नहीं हो सकता। मतों का खण्डन-मण्डन केवल बुद्धि को निर्मल करने के लिये तथा प्रस्थानगत वैशिष्ट्य की रक्षा के लिये होता है। वस्तुतः समन्वय दृष्टि से देखा जाय, तो सभी मत सत्य हैं एवं दृष्टि और अधिकार के भेद से सभी उपादेय भी हैं। इसलिये सर्वत्र सहानुभूति के साथ समीक्षण आवश्यक है। ऐसा यदि न किया जाय, तो रहस्य का उद्घाटन ही नहीं हो सकेगा। जो पुरुष श्रद्धा के साथ सत्य के निकट उपस्थित नहीं होता, उसके समक्ष सत्य अपना स्वरूप प्रकट ही नहीं करता। यही भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति के ऐक्य का निगूढ़ तत्व है। "अविभक्तं विभक्तेषु" (१८/२०) यह गीता का बचन भी इसी अर्थ का परिचायक है।

अतएव विभिन्न दृष्टिकोणों से विचारना चाहिये, परन्तु परमार्थ रूप में जो सत्ता दृष्टिगोचर होती है, वह एक ही है। इस दृष्टि से देखने पर बौद्ध, जैन आदि प्रस्थानों का, न्याय आदि षड्दर्शनों का तथा वैष्णव, शैव, शाक्त प्रभृति दृष्टियों का वैशिष्ट्य अखण्ड सत्ता की पृष्ठभूमि में परिस्फुट रूप से प्रकट होगा।

श्रद्धेय कविराजजी के इस प्रकार के उपदेशों से प्रेरित होकर ही लेखक ने अपना यह विचार बनाया है कि भारतीय तत्वज्ञान के क्रमिक विकास को ब्राह्मण, बौद्ध, जैन, हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, आदि के कल्पित काल विभागों में बांटकर किया गया अध्ययन वस्तुतः अधूरा है। सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन के देशिक और कालिक क्रमिक विकास का तुलनात्मक एवं घात प्रतिघातात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाना चाहिये और ऐसा करते समय ब्राह्मण, बौद्ध, जैन जैसे कल्पित विभाग को, जिसको कि श्रद्धेय कविराजजी ने खण्ड के नाम से पुकारा है, सत्य की खोज में बाधक नहीं होने देना चाहिये। इस प्रकार का अध्ययन प्रस्तुत न हो पाने से ही भारतीय चिन्तन में अनेक प्रकार की भ्रान्तियां प्रविष्ट हो गयी हैं और देश की अखण्डता पर भी उसका बुरा प्रभाव पड़ा है। हम उदाहरण के रूप में पंजाब की समस्या को ही ले सकते हैं।

इस प्रकार की समस्याओं से छुटकारा पाने के लिये हमें वैदिक विश्वबन्धुत्व की भावना के साथ भगवान् बुद्ध की महाकरुणा को एवं भगवान् महावीर की कठोर तपस्या को मिलाना होगा। साथ ही आगम और तन्त्रशास्त्र में, सिद्धों, नाथों, सन्तों और गुरुओं की वाणी में बतायी गयी समता दृष्टि का भी विस्तार करना होगा। आज की दुनियां केवल राजनीतिक संघर्ष से ही नहीं, धार्मिक और सांस्कृतिक विद्रूपताओं से भी भरी हुई है। राजनीतिक लाभ के लिये धार्मिक और सांस्कृतिक क्रियाकलापों का भी सहारा लिया जा रहा है और एक अखण्ड भारतीय संस्कृति के निर्माण में बाधा पहुंचायी जा रही है। दुर्योधन की जंघा की तरह कमजोर अंगों पर आक्रमण सदा होता रहा है। इसलिये हमें अपनी कमजोरियों को पहचान कर उनको दूर करने का प्रयत्न करना होगा। इसके लिये दूसरों को दोषी बताने से हमारा कोई लाभ होने वाला नहीं है और न इस तरह से विघटन की प्रक्रिया ही रूकने वाली है।

क्रियापक्ष के बाद भावपक्ष का विश्लेषण करते हुए कविराज जी कहते हैं कि आध्यात्मिक साधना का रहस्य समझने के लिये साधक को अपनी व्यक्तिगत प्रकृति का अनुसरण करना चाहिये, जिसका बोधिचित्तविवरण-कार ने सत्त्वाशय के नाम से निर्देश किया है। साथ ही उस साधना की परम्परागत धारा और वह महाभाव के जिस दिग्विशेष की निर्देशक है, उसकी स्वरूपगत विलक्षणता और अखण्ड सत्ता में उसका निर्दिष्ट स्थान क्या है? यह जानना आवश्यक है। इसमें साधक की बुद्धिगत सूक्ष्मता और स्वच्छता के मूल में परमात्मा की जाग्रत् करुणा अवश्य ही होनी चाहिये।

इस आध्यात्मिक वैयक्तिक साधना का अपना स्थान है। यह भी मानव कल्याण के लिये प्रवृत्त है, किन्तु भगवान् बुद्ध के उपदेश के अनुसार बहुजनहिताय बहुजनसुखाय व्यक्तिगत उन्नति के साथ सामूहिक उन्नति की भावना का विकास भी आवश्यक है। यह तभी हो सकता है, जब कि पारलौकिक उपलब्धि के साथ इहलोकिक नैतिकता की, सीमित रूप में ही सही, ह्रासवाद के स्थान पर विकासवाद और भाग्यवाद के स्थान पर पुरुषकारवाद की जनमानस में प्रतिष्ठा हो। ऐसा करने पर ही हम श्रद्धेय गुरुचरण श्री श्री गोपीनाथ कविराज के बताये अखण्ड महायोग के माध्यम से योगी अरविन्द की अतिमानस सृष्टि को धरती पर उतार सकते हैं। एक दुनिया और विश्व-संस्कृति की कल्पना भी तभी साकार हो सकती है।

कविराजजी के अखण्ड महायोग को उन्हीं के शब्दों में संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है--

महायोग का अर्थ है, अनन्त प्रकार असंश्लिष्ट और विक्षिप्त भावों की एक सूत्र में संयोजना एवं उनकी तादात्म्यरूपेण प्रतिष्ठा। शिव के साथ शक्ति का योग, आत्मा के साथ परमात्मा का योग, एक आत्मा के साथ दूसरी आत्मा का योग, महाशक्ति के साथ आत्मा का योग, लोक और लोकोत्तर का परस्पर योग, लोकों के साथ लोकातीत का योग आदि सभी महायोग के अन्तर्गत हैं।

काल तात्विक दृष्टि से महाकाल और खण्डकाल में विभक्त है। महाकाल अखण्ड और निरन्तर सृष्टिशील है, तो खण्डकाल अतीत, वर्तमान और अनागत रूप से त्रिधा विभक्त है। अनादिकाल से काल का यह स्रोत चला आ रहा है। आलंकारिक भाषा में कहा जा सकता है कि विशाल काल-सरिता निरन्तर अनागत से प्रवाहित होकर वर्तमान का स्पर्श करती हुई अतीत के गह्वर में लीन हो जाती है। किन्तु ऐसी भी स्थिति आती है, जहां त्रिकाल नहीं है। वहां एकमात्र नित्य वर्तमान अखण्ड काल विराजमान रहता है। वहां सभी वस्तुएं नित्य प्रकाशमान रहती हैं। किसी का भी परिणाम नहीं होता। इस अखण्ड महाकाल में उपर्युक्त महायोग की स्थिति ही अखण्ड महायोग के नाम से अभिहित है।

इस अखण्ड महायोग की पूर्णता अमरत्व प्राप्ति, निराकार प्रेम और अन्ततः साकार प्रेम-साधना में है। इस योग में अन्ततोगत्वा जगत का वैचित्र्य रहने पर भी भेद नहीं रहता। एक की प्राप्ति से सबकी प्राप्ति का नित्य सम्बन्ध लगा रहता है। जगत् की वर्तमान स्थिति में यह नहीं है। एक की मुक्ति से सभी की मुक्ति, एक की प्राप्ति से सभी की प्राप्ति, चाहे पूर्णरूप से हो चाहे आंशिकरूप से, तभी हो सकती है, जब समष्टि या महा-समष्टि की दृष्टि से समग्र जगत् में तादात्म्य प्रतिष्ठित हो।

अखण्ड महायोग की साधना में तात्विक दृष्टि से दो वस्तुओं की पूर्ण अपेक्षा है—एक तो मनुष्य का श्रेष्ठ प्रयत्न और दूसरा परमात्मा का परम अनुग्रह। मनुष्य के लिये चाहिये—पुरुषकार और एकीकरण। पुरुषकार द्वारा तत्वों का लय करना पड़ता है। यह सारा जगत् पृथ्वी से लेकर महामाया पर्यन्त विस्तृत है। प्रथम तत्व जितना व्यापक है, दूसरा तत्व उससे अधिक व्यापक है। इसी प्रकार अन्तिम तत्व सर्वाधिक व्यापक है। व्याप्य तत्व से व्यापक तत्व में उत्थान का एकमात्र उपाय है—कर्मगत कौशल। दूसरा तत्व प्राप्त होते ही उसके मण्डल की अधि-गति (प्राप्ति) होती है। अन्तिम तत्व तक जाने पर समग्र विश्व उसके अधिकार में आ जाता है। इस प्रकार मनुष्य के श्रेष्ठ प्रयत्न पुरुषकार द्वारा साधक एकीकरण की प्रक्रिया पूरी करता है। पुरुषकारवाद की चर्चा हम पहले भी कर चुके हैं।

योग-साधना की दूसरी धारा है—परमेश्वर की महाकरुणा के प्राप्त होने पर अपनी आश्रित सत्ता को अनुगृहीत करना। परमेश्वर की कृपा मनुष्य की कर्मगत या ज्ञानगत योग्यता से नहीं प्राप्त होती। कर्म का फल ऐश्वर्य है और ज्ञान का कैवल्य। ये दोनों महाकृपा के उद्‌बोधक नहीं है। महाकृपा का स्फुरण किसी जीव पर परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति से होता है। इस कृपा का संचार होने पर मनुष्य में शिवत्व आ जाता है। उस समय वास्तविक दृष्टि से परमात्मा की क्रियाशक्ति ही काम करने लगती है। उसका पूर्ण विकास होने पर शिवत्व पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हो जाता है। कर्म और कृपा के समन्वय से ही योगी अखण्ड महायोग के मार्ग पर आगे बढ़ता है।

अखण्ड महायोग का उद्देश्य है—गुरूकृपा के प्रभाव से काल की निवृत्ति। खण्ड रूप से यह अनादिकाल से होती चली आ रही है, किन्तु उससे समग्र विश्व का सामूहिक कल्याण पूर्णरूप से निष्पन्न नहीं होता। इसके लिये आवश्यक है कि मोक्षपद की ओर आरोहण का कार्य समाप्त कर, महाशक्ति के साथ अपना तादात्म्य सिद्ध कर, महाशक्ति सम्पन्न होकर योगी महाप्रेम की साधना के लिये इसी संसार में अवतरण करे। इस अवतरण का उद्देश्य है—विशुद्ध प्रेम की साधना। महाकरुणा से प्रेरित होकर हीं बुद्धदेव ने महाबोधि की प्राप्ति हो जाने पर भी निर्वाण में प्रवेश न कर सभी दुःखी जीवों के उद्धार का शिव संकल्प किया था। महाप्रेमावस्था के सिद्ध हो जाने

पर योगी महाप्रकाशमय हो जाता है। इसके अनन्तर स्वातन्त्र्य शक्ति का उन्मीलन होता है और जगत् में महाप्रेम के पूर्ण विकास का मार्ग खुल जाता है।

श्रद्धेय कविराजजी के इस आध्यात्मिक अखण्ड महायोग को आधिभौतिक स्थूल दृष्टि से अखण्ड संस्कृति के माध्यम से कुछ समझा जा सकता है। आधुनिक जगत् स्वत्व के संकोच के कारण दुःखी है। यह स्वत्व धर्म, राष्ट्र, राज्य, भाषा, जाति, कुटुम्ब-कबीले आदि के नाना विभ्रमों में पड़कर बंटा हुआ है। अखण्ड संस्कृति के माध्यम से इन विभ्रमों को तोड़ पाने के उपरान्त ही अखण्ड स्वत्व का बोध संभव हो सकता है। कविराजजी को पुष्पदन्त के शिवमहिम्नः स्तव का–

रूचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

यह श्लोक अत्यन्त प्रिय था। सहिष्णुता और समन्वय भारतीय इतिहास की विशेषता रही है। यह प्रक्रिया अब भी निरन्तर क्रियाशील है। त्याग और तपस्या के उच्च आदर्शों से अनुप्राणित साधु-सन्तों की परम्परा परस्पर के स्थूल भेदों को मिटाने में निरन्तर सचेष्ट रही है। महात्मा गांधी, योगी अरविन्द आदि महामानव इसी परम्परा की अलख जगाते रहे है। इन्होंने आधुनिक विश्व के वर्तमान धर्मों और विभिन्न वादों के विरोधी दृष्टिकोणों में सहिष्णुतापूर्वक समन्वय स्थापित कर अखण्ड संस्कृति के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया है, जिससे विश्वसमष्टि में इस अखण्ड संस्कृति के आविर्भाव से स्वत्व का संकोच दूर हो और "वसुध व कुटुम्बकम्" की उदात्त भावना का विकास हो। जहां प्रत्येक वस्तु के साथ प्रत्येक वस्तु के अभेद के प्रतिष्ठित होने पर भी अपने स्वरूप के नष्ट होने का कोई प्रसंग नहीं है, वहां विश्व के किसी भी बाद, धर्म अथवा संस्कृति के लोप का भय क्यों उपस्थित होगा ?

अखण्ड महायोग के उपासक के स्थूल व्यापार की इतिकर्त्तव्यता, इस अखण्ड संस्कृति के माध्यम से व्यष्टि एवं समष्टि में स्वत्व का विस्तार कर, उसमें विश्व के प्रति भ्रातृ-भाव का उन्मूलन कर, समाप्त होता है। इस प्रकार यहां स्वत्व का विस्तार होता है, लोप नहीं। अखण्ड महायोगी के आध्यात्मिक स्थूल चिन्तन में यह स्थूल व्यापार भी निरन्तर जुड़ा रहता है, जिससे कि दुःख-व्याधि ग्रस्त यह समग्र विश्व अपने स्थूल रूप में भी शान्ति और प्रेम के आलोक से आलोकित हो सके।

इसी परिप्रेक्ष्य में कविराज जी का कहना है कि भारतीय साधना "भारतीय" नाम से आख्यान होने पर भी विश्वमानव की साधना है। भारतवर्ष में प्राचीन युग से वर्तमान काल तक असंख्य साधन-धाराएं प्रवर्तित हो चुकी हैं और हो रही हैं। यदि कभी भारतीय साधन-धाराओं के क्रम विकास और उसके अन्तर्निहित वैचित्र्य के विवरण का निरूपण करते हुए किसी इतिहास ग्रन्थ का निर्माण हो, तो इन सब पृथक पृथक साधन-धाराओं के मूल का निरूपण करना सहज होगा। उस समय यह स्पष्टतः प्रतीत होगा कि अन्याय देशों में प्रचलित प्रायः सभी धाराओं की एक झलक किसी न किसी आकार में भारतीय साधना-विशेष में विद्यमान है। तब समझ में आयेगा कि भारतीय अध्यात्म विद्या के विशाल क्षेत्र में सभी धर्मों का वैशिष्टय न्यूनांधिक मात्रा में संरक्षित है।

संघर्ष विभीषिका, परस्पर अविश्वास और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की ओर तीव्रगति से बढ़ रहा यह विश्व तभी त्राण पा सकता है, जबकि 'वसुधैव कुटुम्बकम्" और सर्व खल्विदं ब्रह्म" का दिव्य संदेश विश्व-संस्कृति को समर्पित किया जा सके। यह तभी हो सकता है, जबकि भारत इसको देने में समर्थ हो। दुनिया के सभी धर्म और संस्कृति के अनुयायी यहां बसते हैं। वे यदि शान्तिपूर्वक रहना सीख जांय तो अनायास ही विश्व संस्कृति की सर्जना का मार्ग खुल सकता है। कविराजजी का यह निश्चित मत था कि अखण्ड दृष्टि ही विश्व में शांति और सौहार्द की प्रतिष्ठा और एकता स्थापित कर सकती है। इस नवीन दृष्टि के आविर्भावक उस क्रान्तदर्शी मनीषी को आज हम श्रद्धावनत हो स्मरण करते हैं। ★

महाशक्ति

डा० पुत्तूलाल शुक्ल 'चन्द्राकर'

१

स्वर निखिल अम्ब ! तव कीर्ति के गान हैं,
विश्व के दृश्य सब रूप के ध्यान हैं।
भोग नैवेद्य सब, तीर्थ यात्रा प्रगति,
कर्म सार समाराधना रूप हैं॥

२

अम्ब हे ! आदिमां रूपिणी शक्ति तू,
सृष्टि विस्तार के वृत्त में केन्द्र तू,
आत्म सम्भव स्वयं आदि अव्यक्त तू,
है प्रकृति तत्व सञ्चार में व्यक्त तू।

३

सृष्टि संकल्प तू, हेतु, आरम्भ तू,
है निमित्ताऽनिमित्ता, उपादान तू।
है महत्, तू अहङ्कार, चैतन्य तू,
बुद्धि तू, बोध तू, मन तथा प्राण तू।

४

अम्ब ! तू सृष्टि से है परे पूर्ण है,
सृष्टि-रचना पुनः सृष्टि रूपा स्वयं,
बाहुयें दश दिशायें परम व्योम में,
काल तेरे चरण में प्रणत मार्ग है।

५

तू महामोह मय योग निद्रा स्वयं,
विष्णु आश्रय बनी कल्प के आदि में,
सृष्टि-निर्माण-गति हो गई वद्ध जब
और सृष्टा विकट संकटापन्न थे।

६

तब महारात्रि में प्रात के सम उदित,
तू हुई, जाड्य का कोष खण्डित हुआ,
और चैतन्य के सिन्धु-हिल्लोल में,
बन्ध टूटा, महामृत्यु जित हो गया।

७

तू अमृत-तत्व है, जीव की पोषिका,
शक्ति सावित्रि ! तू वृद्धि, तू कोशिका,
प्राण-सञ्चार, निःश्वास तू, श्वास तू,
तू हृदय-सञ्चरण, प्रति चरण धर्म तू।

८

ये भरत खण्ड तो पुण्य की भूमि है,
धर्म की भूमि है, कर्म की भूमि है,
अम्ब ! प्रत्यक्ष हो, तू पुनः लोक में,
देव की भूमि में दैत्य का वास क्यों ?

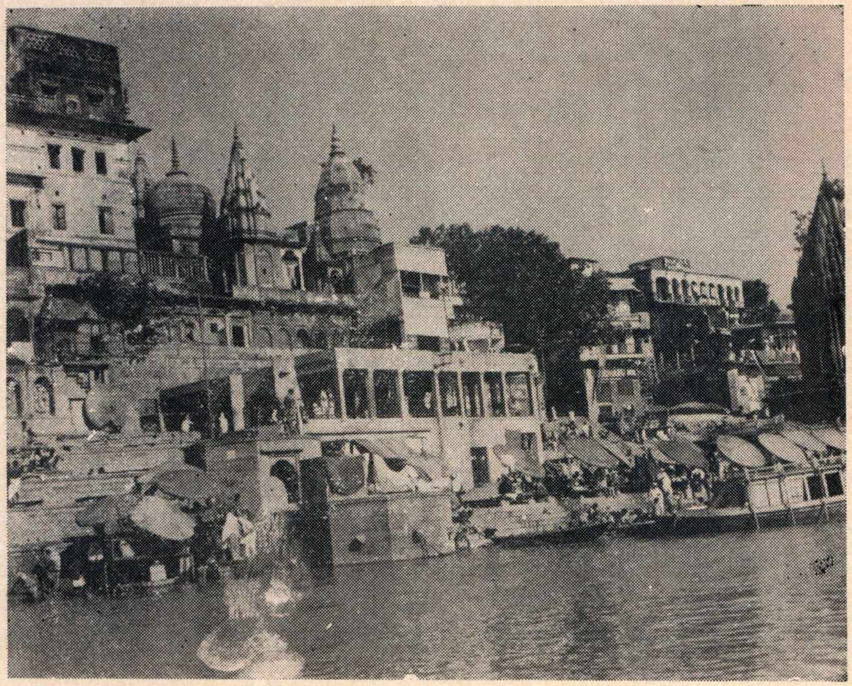
९

बोल तू अम्ब तूने रची सृष्टि है ?
क्यों अनाचार अन्याय की वृष्टि है ?
और, तू मौन है, रक्षिका कौन है ?
शुम्भ का राज्य, तेरी कहाँ दृष्टि है ?

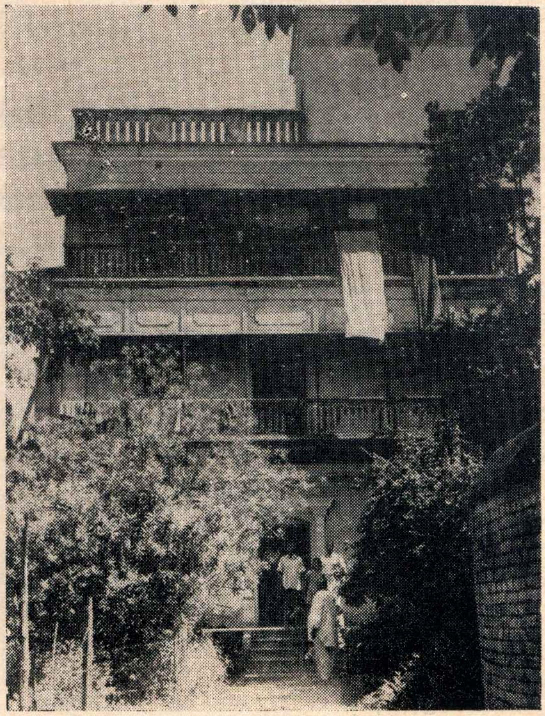
१०

सृष्टि-निर्माण फिर अम्ब ! सम्भव न क्या ?
हो प्रलय, तो, पुनः अम्ब ! उद्भव न क्या ?
अम्ब ! देवत्व की फिर प्रतिष्ठा करो,
दैत्य-जन-नाश में अम्ब ! विश्राम क्यों।

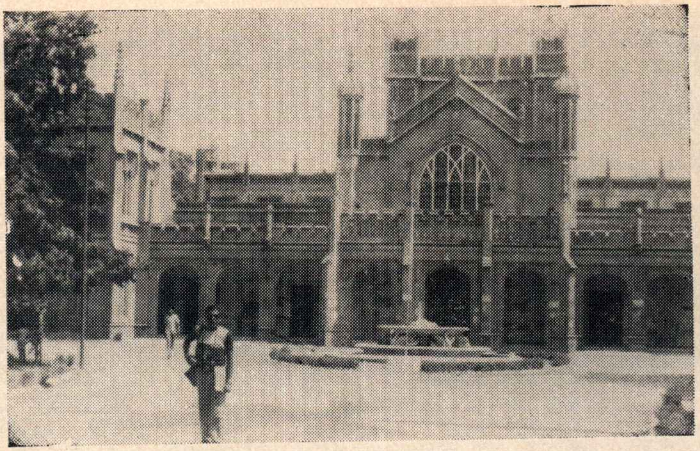
—: ० :—



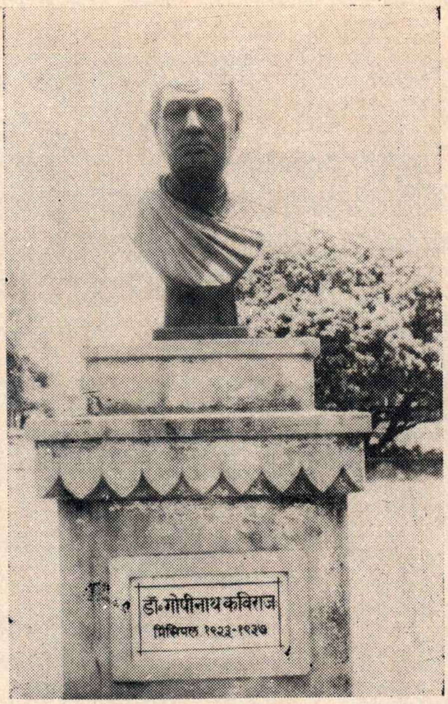
पतितपावनी गंगा जी का काशी स्थित घाट



कविराज भवन, सिगरा, वाराणसी



संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी



विश्वविद्यालय में कविराजजी की प्रस्तरमूर्ति

कविराजजी के प्रति श्रद्धा :
अखण्ड भारतीय संस्कृति का जागरण

प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय

महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज के व्यक्तित्व, अध्ययन और चिन्तन में सम्पूर्ण भारतीय परम्पराओं, उसकी विविध सांस्कृतिक धाराओं, उसके सम्पूर्ण धर्मो और दर्शनों का महान् परिपाक हुआ है। इतना ही नही, ज्ञात युगों में मनुष्य जाति ने आज तक जो कुछ आध्यात्मिक विकास किये हैं और उनके अध्ययन की सामग्रियां कहीं भी प्राप्य रही हैं, तो उन सभी ज्ञान स्रोतों से उन्होंने साक्षात् परिचय प्राप्त करने का महान् प्रयास किया था। उनका भावात्मक व्यक्तित्व अध्ययन से भी विशाल था। वह शतशः आध्यात्मिक मार्गों के अखण्ड महायोग से सम्पन्न हुआ है। उनकी प्रज्ञा-भूमि में मनुष्य की सारी उदार चिन्ताधारायें एवं उदात्त आकांक्षायें अपनी दैशिक एवं कालिक सभी आवरण कंचुकों को छोड़कर महासमन्वय प्राप्त कर चुकी हैं। कविराज जी का वैचारिक व्यक्तित्व संस्कृति के क्षेत्र में युगान्तकारी परिवर्तन की सूचना देता है, जिसमें पुरानी निष्ठा और नवीन प्रतिभा के सन्तुलन का महान अवसर है। उन्होंने अनेक विलुप्त प्राचीन शास्त्रों को उद्धार किया है और उन विषयों के अध्ययन और अनुसन्धान के लिये दर्जनों संस्थाओं और सैकड़ों-सैकड़ों भारतीय एवं विदेशी विद्वानों का मार्ग-दर्शन किया है। वास्तव में विगत अर्ध-शताब्दी में भारतीय विद्या और साधनाओं का विश्व संस्कृति के सन्दर्भ में जो भी अध्ययन और अनुसन्धान हो सका है, उसके महान पुरोधाओं में कविराज जी थे।

शास्त्र और साधना के इस समुद्र के अवगाहन के लिये तृष्णाओं के जाल से अपने को मुक्त कर लेना, कोई सामान्य बात नहीं है। कविराज जी ने इसके लिये सब कुछ किया। उन्होंने बड़े-से-बड़े सम्मानजनक पद, उपाधियां तथा अपने ही यश एवं गौरव से अनायास प्राप्त होने वाले भोगों के स्रोतों को भी अपने ही हाथों सुखा डाला। विद्या के साथ आचरण का यह संयोग इतिहास के विश्व महापुरुषों का स्मरण दिलाता है। सौभाग्य की बात है काशी की परम्परा में कविराज जी अपनी अनवरत साधना से एक ऐसे महान् विद्यातीर्थ बन गये, जहां देश-विदेश से चलकर बड़े से बड़े विद्वान अपनी जिज्ञासाओं का समाधान पाते रहे और अर्न्तजगत के पथिक उनसे प्रकाशमार्ग। जिसने अपनी कष्टोपार्जित विद्या का बिना किसी भेदभाव और प्रतिदान की आशा में निरन्तर निश्छल रूप में जिज्ञासुओं और शिष्यों में वितरण किया हो और सम्पूर्ण समाज को उस रस से आप्लुत कर देने की महान उत्कण्ठा रखता हो, ऐसे निर्वैर, निर्लोभ बोधिसत्व एवं विद्येश्वर के पुण्य चरित से अवश्य ही सारी मानव जाति की शोभा बढी है।

अब प्रश्न है कि पूज्य कविराज जी ने अपनी सम्पूर्ण साधना से जिस जीवन-दृष्टि एवं भाव-दृष्टि का अवतरण किया था, उनसे आगे शिक्षा, संस्कृति और समाज को किस प्रकार अनुप्राणित किया जाय। कविराज जी की दृष्टि में, अध्ययन, शोध और सम्पूर्ण सदाचार और नीति का लक्ष्य सांस्कृतिक उत्कर्ष होना चाहिए। इस दिशा में भारतीय संस्कृति के द्वारा विश्व संस्कृति की धारणा को मूर्त्त रूप देने में सहयोग करना ही कविराज जी के कार्यों को आगे बढ़ाना है। इसके लिए एक महान परिकल्पना की आवश्यकता है, जिसके द्वारा कविराज जी

की समग्र जीवन-दृष्टि का व्यापक प्रतिफलन हो। वाराणसी उनकी साधना स्थली है, जहां सारनाथ में तथागत का इसीपतन मृगदाय भी संलग्न है, इस वाराणसी-सारनाथ में भारतीय ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व के लोग एक विशेष आकर्षण से आते हैं। इस दिशा में यहां आयोजित कोई भी विद्या समारंभ थोड़े प्रयत्नों से अन्तर्राष्ट्रीय महत्व प्राप्त कर सकता है।

इन उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर यह शुभ संकल्प करना चाहिये। इसके लिये संभावनाओं से परिपूर्ण एक विशिष्ट योजना होनी चाहिये, जिसे काशी में मूर्त्त रूप दिया जाय।

इस लक्ष्य से एक ऐसे शोध प्रतिष्ठान की योजना बने, जिसके अन्तर्गत शोध के साथ-साथ कुछ विशेष विद्याओं की स्नातकोत्तर शिक्षा, प्रकाशन और मुद्रण की भी व्यवस्था हो। इस प्रतिष्ठान का मुख्य लक्ष्य शोध होगा, अन्य सभी कार्य उसी के पोषक एवं संवर्धक होंगे।

इस प्रतिष्ठान को सर्वांग सुन्दर एवं सफल बनाने के लिए विभिन्न दृष्टिकोणों से योजनाओं के निर्णय करने की आवश्यकता होगी। केवल किसी विशिष्ट दृष्टिकोण से किसी एक दिशा में ही कार्य करना पर्याप्त न होगा।

इस प्रतिष्ठान का प्रथम उद्देश्य होना चाहिये भारतीय संस्कृति की विशाल रूपरेखा के समुचित अंकन के लिये उक्त संस्कृति के आधारभूत संस्कृत, पालि और प्राकृतों या तद्भव प्राचीन या नवीन भाषाओं के द्वारा निबद्ध प्राचीन और मध्य युग के वाङमय का पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिये उपयोगी सामग्रियों का संकलन करना।

पुनश्च इसके साथ इसका भी पूर्ण रूप से ध्यान रखना होगा कि भारतीय संस्कृति के साथ इतर संस्कृतियों के तुलनामूलक आलोचनात्मक अध्ययन एवं शोध के द्वारा ऐसी चेष्टा करना जिससे यथासम्भव उसका मानवीय संस्कृति के साथ समन्वय-विधान हो सके।

इस विशिष्ट लक्ष्य की सिद्धि के लिए यह भी आवश्यक होगा कि प्राचीन काल में एशिया खण्ड के जिन भाषाओं के अन्तर्गत भारतीय विद्या एवं संस्कृति प्रसृत हुई थी और सुरक्षित, विकसित हुई है उन शास्त्रीय चीनी जापानी, तिब्बती तथा नवीन भाषाओं में सिंहली, वर्मी एवं थाई आदि के भण्डार से परिचय प्राप्त किया जाय, जिससे भारतीय संस्कृति के विराट स्वरूप का परिचय प्राप्त हो।

अपेक्षा के अनुसार हमें अभाषाओं के परिचय की भी नितान्त अपेक्षा होगी जिसके बिना बहुत कुछ मध्यकालीन भारतीय इतिहास की सामग्रियां सुरक्षित हैं. जैसे अरबी, फारसी आदि।

इस प्रतिष्ठान का इस प्रकार संगठन करना होगा जिससे 'भारतीय संस्कृति के विभिन्न प्रस्थानों में अपाततः प्रतीयमान विरोधों में समन्वय-साधन हो सके'। इस बात को स्पष्ट करने के लिए कविराज जी की निम्न लिखित बातें सदा ध्यान में रखनी होगी।

"यह कहना नहीं है कि सृष्टि वैषम्य मूलक है। अतः उसमें विरोध स्वाभाविक है। विचार, आचार, भाव कर्म और चिन्तन में भेदों का रहना और तन्मूलक विरोधों का भी रहना आश्चर्यकर नहीं है किन्तु समस्त विरोधों में अविरोध भी है, इसे सूक्ष्म दृष्टि के बिना नहीं देखा जा सकता। जगत की वर्तमान परिस्थिति में विरोधों के भीतर अनुस्यूत अविरोध ज्ञान के लिए चेष्टा करनी चाहिए। विज्ञान की प्रवृत्ति और उसका क्रम

विकास भी भिन्न-भिन्न खण्ड ज्ञानों में अनुस्यूत अखण्ड ज्ञान के आभास पर निर्भर है। किन्तु इस सत्य के साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इस सामान्य ज्ञान भूमि की प्राप्ति के पहले खण्ड ज्ञानों के प्रत्येक ज्ञानभूमि का स्पष्ट एवं सत्यरूप का ज्ञान कर लेना आवश्यक है।''

इस दृष्टि से इस शोध प्रतिष्ठान के व्यवहारिक स्वरूप भी कल्पना करें तो उसका निम्नलिखित कर्त्तव्य होगा।

अध्ययन के उन समस्त उपकरणों का संग्रह करना, जिसके आधार पर जागतिक अन्य संस्कृतियों से विलक्षण भारतीय संस्कृति के वैशिष्ट्य का बोध हो सके। किन्तु उन उपकरणों के सदुपयोग का यह आनुषांगिक उद्देश्य होना चाहिये--जगत के अन्य प्रधान संस्कृतियों के साथ भारतीय संस्कृति का मौलिक समन्वय प्रदर्शित करना। इसके लिए इस प्रतिष्ठान में ग्रीक और लैटिन के स्रोतों के उपयोग करने की व्यवस्था होनी चाहिये।

उपर्युक्त आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए प्रस्तावित प्रतिष्ठान का एक विस्तृत प्रारूप तैयार करना होगा। इसके साथ ही उसका एक नामकरण भी करना होगा जिसमें उक्त उद्देश्यों का हृदय प्रकट हो सके। इस प्रसंग में एक नाम लिया जा सकता है-(गोपीनाथ कविराज) अखण्ड भारतीय संस्कृति शोध प्रतिष्ठान, वाराणसी।

कविराज जी की साधना और शास्त्रों के प्रति समग्र दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर प्रतिष्ठान द्वारा होने वाले कार्यों का निम्नलिखित कार्य किया जा सकता है, जिससे प्रतिष्ठान की प्रारम्भिक रूपरेखा स्पष्ट हो। प्रचलित शिक्षा के द्वारा यह संभावना नहीं है कि उससे शिक्षा प्राप्त लोग कविराज जी के विशाल दृष्टिकोण का अवगाहन कर सकें; इसके लिए शोध कार्य के पहले स्नातकोत्तर शिक्षा देकर लोगों को तैयार करना होगा। स्नातकोत्तर कक्षाओं के अध्ययन के विषयों को निम्नलिखित विभागों में विभक्त कर सकते हैं।

१. तुलनात्मक साधना (शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध, जैन तथा सिद्ध एवं सन्त सम्प्रदाय)

२. अद्वैतवाद (वेदान्त, आगमिक और बौद्ध महायान)

३. भारतीय न्याय (गौतम-कणाद-बौद्ध तथा जैन)

४. धर्म और संस्कृति का इतिहास (भारतीय विभिन्न धाराओं में परस्पर तथा बाहर के धर्मी-संस्कृतियों का तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक इतिहास)

५. विश्व की प्राचीन भाषाओं का ज्ञान, विशेषक एशिया की भाषाओं का

शोध कार्य भी मोटे तौर से दो प्रकार के होंगे :--

(क) योजनाबद्ध

(ख) व्यक्तिगत

प्रतिष्ठान में योजनाबद्ध शोध कार्यों को ही प्रमुखता दी जायेगी। बड़ी योजनाओं के द्वारा शास्त्रों से संकलित कर शोध सामग्रियों और ऐतिहासिक सामग्रियों को प्रस्तुत करना होगा।

यहां योजना बनाना उद्देश्य नहीं है, अपितु यह स्पष्ट करना मात्र उद्देश्य है कि कविराज जी की धारा से भारतवर्ष और समग्र विश्व को परिचित करने के लिये हमारे द्वारा क्या करणीय है। मैं समझता हूं कि हमलोगों को कविराज जी की सम्पूर्ण प्रज्ञा और उनकी भावधारा को विश्व के लिये सुरक्षित करना चाहिये।

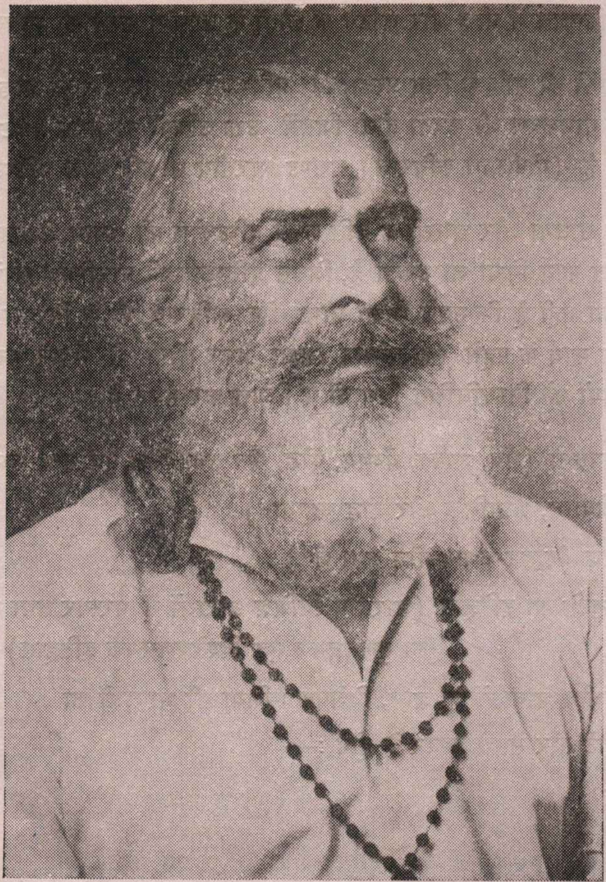
आविर्भाव शताब्दी महोत्सव के पावन पर्व के शुभ अवसर पर

पूज्यचरण योगिराज दादा सीताराम

(मानसपुत्र म० म० पं० गोपीनाथजी कविराज)

को

सादर भावांजलि



द्वैज चन्द्र चूड़ामणि भूषिता त्रिलोचना को, चंचल दृगंचल की वीधिति प्रणाली को।
भाल कुंज बिन्दु अकलंक इन्दु आनन को, कानन कलित 'कीर्ति' कुण्डल कमाली को॥

मन्द हास लसित हसित नथबेसर को, केसर कपूर सी दसन ज्योति जाली को।
करता प्रणाम उस काली कुल देवता को, दादा गुरु तन्त्र से प्रसन्न भद्रकाली को॥

—'कपूर'

श्री श्री कविराजजी और श्री दादा जी

–श्रीनारायण मिश्र, लखनऊ

महामनस्वी कविराजजी जहां विश्व-विश्रुत महान विद्वान एवं श्रेष्ठ आचार्य थे, वहीं विश्व संस्कृति की समस्त आध्यात्मिक साधनाओं एवं दर्शन के सूक्ष्म पारखी मर्मज्ञ, तत्वान्वेषी और स्वयं पारदृष्य थे । उन्होंने अपने सद्गुरू योगिराजाधिराज विशुद्धानन्द परमहंसदेव के निर्देशन में अखण्ड विशुद्ध सत्ता के साथ महायोग निजस्व किया था । संसार के सभी आध्यात्मिक साधनाओं एवं सिद्धान्तों के प्रति उनमें अद्भुत समन्वयता का दृष्टिकोण था । वे सभी प्रकार के साधन पथों के सुपरिचित यात्री एवं सूक्ष्मतम् दृष्टा थे । उनमें श्रेष्ठतम बिद्या, बुद्धि, ज्ञान-विज्ञान, कर्म व भक्ति का आश्चर्य जनक समन्वय था । पूज्य कविराजजी आजीवन एकनिष्ठ एवं एकान्तिक रूप से अति गुप्त एवं कठिन साधना करते रहे, जिससे संसार के मनुष्यों का दुःख, दारिद्र्य, कष्ट आदि का पूर्ण निराकरण हो सके । वे अखण्ड महायोग द्वारा परम विज्ञान के माध्यम से काल नाशक कर्म में अपने को नियुक्त किए रहे ।

श्री बाबा विशुद्धानन्दजी द्वारा कविराज जी को आध्यात्मिक शिष्य बनाने का आदेश नहीं था । श्री श्री बाबा के स्थूल शरीर संकोच के पश्चात् गुरुदत्तकाय सम्पन्न पूज्य कविराज जी ही अखण्ड महायोग की अवशिष्ट साधना के निमित्त बने । साधारण विद्वत् मण्डली कविराज जी को सरस्वती के वरद पुत्र के रूप में ही जानती रही । शिष्य मण्डली के अभाव में इनकी उच्चतम साधना विषयक अनुभूति से बहुत थोड़े लोग ही परिचत थे । यद्यपि सम सामयिक प्रसिद्ध साधु-संत एवं महात्माओं का जमघट सर्वदा ही इनके निबास कविराज भवन, सिगरा वाराणसी में देखा जाता था, जिन्हें वे करूणावश उनकी ही साधना धारा के अनुकूल दिशा निर्देश दिया करते थे ।

पूज्य कविराज जी को शिष्य बनाने का अधिकार तो नहीं था किन्तु वे किसी एक व्यक्ति को पुत्रवत् अपनी तपस्या का प्रसाद, आध्यात्मिक विज्ञान की फलोपलब्धि, गुरू निर्दिष्ट श्रेष्ठतम् साधना प्रणाली एवं शक्तिपात द्वारा गोपनीय दीक्षा रहस्य का दान दे सकते थे, ताकि जब तक जीवों का दुःख निवृत्त न हो जाय, मनुष्य जीवों में व्यापक जाग्रति बनी रहे । कविराज जो दूरदृष्टा थे । अपने सद्गुरु के स्थूल शरीर संकोच से दो-ढाई वर्ष पूर्व हो एक ज्ञान पिपासु एवं अध्यात्म विज्ञान के जिज्ञासु किशोर वय बालक को अपने सद्गुरु बाबा विशुद्धानन्द जी के चरणों में गुरुवत् प्रणाम निवेदित कराया । उन महान श्री गुरू एवं शिष्य कविराज जी में क्या मूक वार्ता आंखों के माध्यम से हुई, किसी को नही मालूम । बाबा मुस्कराये, और बालक को प्रथम सोख

दो, "बापू, कर्म करना ही होगा, बिना प्रेम से न मिले नन्दलाला"। परोक्ष में श्री श्री बाबा का संकेत अति दूरदर्शी था। उन्होंने महाप्रेम सिद्धि की ओर इशारा किया था, जो बिना महाकरुणा जाग्रत किए संभव नहीं है। वास्तव में महाप्रेम सिद्धि रूपी परम विज्ञान इस जगत म तब तक अवतरित ही नहीं था। इस महाकरुणा का आधार लेकर महाप्रेम के विज्ञान से समस्त जीवों के दुःखों का निवारण किया जा सकता है। उस समय उस किशोर बालक ने उन शब्दों में निहित व्यापक गूढ मर्म को नहीं समझा था, किन्तु यह प्रथम गुरुवाक्य उनके हृदय के बहुत गहराई में पैठ गया। कालान्तर में उसी बालक के बयस्क होने पर इस वाक्य के मर्म का जब उसे बोधोदय हुआ तो उसके हृदय में ऐसी करुणा (आर्तता) जाग्रत हुयी कि उसकी अन्तरात्मा गुरूचरणों में सदा के लिए समर्पित हो गयी। उसकी श्वास-श्वास में गुरुपद ही नित्य विराजमान हो गया। दूसरी ओर अर्न्तदृष्टि में जीव मात्र की करुण वेदना, दुःख और कष्ट ने उसके अन्तर हृदय को झकझोर डाला – जीवों की व्यापक जाग्रति हुए बिना चैन नहीं लेना है – का संकल्प जाग्रत हो गया। श्री श्री बाबा के समक्ष इस बालक को श्री कविराज जी नित्य ही अपने साथ लाते रहे। बालक अपनी बुद्धि सामर्थ्य के अनुसार देखता, समझता, सीखता रहा।

श्री श्री बाबा के तिरोधान के पश्चात् पूज्य कविराजजी ने इस बालक को, जो नवयुबक हो रहा था, सदा अपने साथ सहचर रूप में रक्खा। इसी किशोर बालक को आज लोग 'दादा सीताराम जी' के नाम से जानते हैं। श्री कबिराज जी ने प्रत्यक्ष या परोक्ष ज्ञान देकर पुत्रवत् सहचर के रूप में व्यवहारिक शिक्षा दी, साथ ही दादा जी को कई महाज्ञानियों, महायोगियों एवं बड़े-बड़े सिद्ध पुरुषों के पास आध्यात्मिक ज्ञानार्जन एवं व्यवहारिक योग, तंत्र-मंत्र विद्या सीखने हेतु भेजा। परीक्षा श्री कविराज जी स्वयं लेते थे और प्राप्त ज्ञान तथा अनुभूतियों में शुद्धता का परिमार्जन करते थे। सुधरी एवं परिष्कृत प्रणाली सुझाते थे। शास्त्रों का गुप्त रहस्य ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभूतियों के माध्यम से प्रत्यक्ष कराते थे। श्री कविराज जी ने दादा जी को समन्वयात्मक रूप से समस्त साधनाओं का मूल रहस्य और साधना क्षेत्र का श्रेष्ठतम नवनीत प्रदान किया है।

श्री कविराज जी ने दादा जी को अध्यात्म विज्ञान का बह अद्भुत रहस्य सिखाया जिसके द्वारा किसी भी व्यक्ति को शक्तिपात द्वारा दीक्षा देकर सीधे कुण्डलिनी जाग्रत कर षटचक्र के पार से साधक साधना आरम्भ कर सके। महर्षि पातञ्जलि के अनुसार चित्त वृत्ति निरोध श्रेष्ठ योगभूमि है, किन्तु दादा जी को श्री कविराज जी ने इसका बैज्ञानिक पहलू भी बतलाया और सिखाया कि कैसे चित्तवृत्ति निरोध एक विज्ञान है। श्री कविराज जी द्वारा प्रदत्त इन्द्रिय निरपेक्ष वैज्ञानिक साधना प्रणाली से साधक को लक्ष्य प्राप्ति की दिशा में अनावश्यक विलम्ब नहीं होता है। इस प्रणाली को प्राण-चिन्तना-ध्यान-योग कहा जा सकता है। बास्तव में इसमें प्राणरूपी श्वास-प्रश्वास की भी धारणा नहीं है। यह सीधे बोधपूर्ण होने की साधना है। इस प्रणाली में गुरू शिष्य के घट मध्य में क्षण रूपी महाविज्ञान का बीज अपने शक्तिपात द्वारा वपन करते हैं। यह 'क्षण विज्ञान' अत्यन्त गुह्य एवं गूढ रहस्यमय विज्ञान है, जो भाषा और वाणी

द्वारा व्यक्त नहीं हो सकता, यह तो गुरू द्वारा शिष्य में इन्द्रियातीत बोध द्वारा प्रत्यक्ष होता है। जो साधक शिष्य जितना हो श्रद्धाबान होकर दीक्षा ग्रहण करता है उतनी ही गहराई एवं तीव्रता से सुषुम्ना मध्य में साधक की स्थिति होती है। 'मध्य विकासः चिदानन्द लाभः' साधना सूत्र है।

इस प्रकार पूज्य कविराज जी ने ३८ वर्ष लगातार अपने साथ रखकर समस्त साधन प्रणाली एवं ज्ञान-विज्ञान की विभूतियों से सम्पन्न कर सन् १९७३ में पूज्य दादा सीताराम जी को जीवों में जाग्रति के लिए दीक्षा देने हेतु निर्देश किया। पूज्य कविराज जी ने श्री दादा जी से कहा था, "जीव बहुत दुःखी है, उसके दुःख निवारण हेतु उनमें आधार तैयार करो और जो तुम अपने में अनुभव करते हो, वह जगत को दो।" श्री दादा जी में आध्यात्मिक रुचि जन्मजात थी। इन्हें १४ वर्ष की आयु में ही भगवान श्री कृष्ण के बालरूप में साक्षात् दर्शन हुए थे। पूज्य चरण श्री दादा जी जब कभी हम शिष्यों के मध्य प्रसंगवश साधुमना कविराज जी की चर्चा में होते हैं, तो उनके नेत्र अश्रुपूरित एवं हृदय भाव विभोर हो उठता है। प्रसंगवश कई बार उन्होंने श्री कविराज जी का उनके प्रति असीम वात्सल्य एवं स्नेह की चर्चा करते हुए बताया कि जब तक वे श्री कविराज जी के साथ रहे, उन्हें सर्वदा एक तरह की निश्चिन्तता एवं मस्ती तथा अन्तर में भाव पूरित असीम शान्ति रहती थी। उन्हें कभी भी किसी तरह की दैहिक, दैबिक तथा भौतिक चिन्ता नहीं रही। सर्वदा ही पूज्य कविराज जी के स्नेह भाजन रहे तथा उन्हीं की असीम आनन्ददायक छत्रछाया के तले शनैः शनैः भावी अवशिष्ट कर्म की पूर्णता के गंभीर भार को वहन करने की क्षमता अर्जित करते रहे। पूज्य कविराज जी की दृष्टि में श्री दादा जी का चित्र उस समय भी आज की स्थिति का ही था, फलतः उन्होंने श्री दादा जी को सर्वदा ही भावी जीवन के अनुरूप ही मार्ग दर्शन किया। पूज्य दादा जी के पूर्व संस्कार श्री कविराज जी का अनन्यतम सान्निध्य पाकर निखर उठे, करुणा बह चली एवं एक सामर्थ्यवान गुरुपद में प्रतिष्ठित आज वह हम लोगों के मार्ग दर्शन में प्रवृत्त हैं।

श्री दादा जी सर्वदा ही कहते हैं कि, "महात्मागण दीर्घ तपोबल के द्वारा साधना और सिद्धि प्राप्त करते हैं, अतः दूसरों को देने में कृपणता वर्तते हैं, वे साधकों से पहले अपने समान दीर्घ तप कराते हैं, किन्तु मुझे तो यह पुत्रवत् प्रेम से मिली है अतः मैं उसी भाव से पिपासुजनों में इसे वितरित करता हूँ। "आत्म-क्रिया-योग" की इस पुरातन अथच चिर नवीन साधना से जीव अपने उद्धार का पथ निश्चय ही प्राप्त करेगा। इस पर उनका अटूट विश्वास है। गृही योगी द्वारा प्राप्त इस निरपेक्ष साधना से बहुतों को आनन्द की प्राप्ति हुई है। श्री दादा जी के निष्काम सेवा का क्रम जारी है, समष्टि की यह साधना, समष्टि तक पहुँचनी है–श्री दादा जी इस हेतु कृतसंकल्प हैं। प्रातः स्मरणीय श्री बाबा विशुद्धानन्द जी परमहंसदेव एवं दृष्टा योगी श्री कविराज जी की यह अमूल्य धरोहर 'सेवा और कर्म' की पूर्णता पर ही फलवती होगी, विज्ञान का अवतरण होगा।

—: ० :—

सनातन धर्म और महाविद्या

–हरिमोहन सिंह यादव, लखनऊ

आर्यधर्म जगत का प्राचीन सत्यधर्म है। यह अनादि एवं अविनाशी है. इसीलिए इसको 'सनातन' नाम से अभिहित किया गया है। किसी व्यक्तिविशेष के द्वारा इसका सम्पादन अथवा प्रचार नहीं हुआ है, किन्तु सत्य, त्रेतादि के युगधर्म के प्रभाव से इसमें साधना के अनुकूल स्वतंत्र पंथ अनुष्ठित हुए हैं। त्रिकालदर्शी महात्मागणों ने ही समय-समय पर युगधर्म का प्रवर्तन और अनुष्ठान किया है। उनलोगों ने योगबल एवं दैवसहाय्य से स्पष्ट देखा था कि जगत के जीव क्रमशः हीनवीर्य, अल्पायु और स्वल्पभोगी होंगे, अतएव उनलोगों ने उस अतीत युग से ही आधार समझकर आधेय, स्थान या क्षेत्र समझकर उपयुक्त बीज वपन की व्यवस्था कर गए हैं। उनलोगों की उस अलौकिक दूरदर्शिता के विषय में आज चिन्तन करने पर चमत्कृत होना पड़ता है। अपौरुषेय वेद हमलोगों के मूल धर्मशास्त्र हैं। सत्ययुग में उच्चवर्ण के मानवगण सतत् वेदानुशीलन, निष्कल परमात्म चिन्तन और उत्कट तपस्या करते थे। तब सभी अत्यन्त दयालु, जितेन्द्रिय, सत्यनिष्ठ, महापराक्रमी तथा स्वधर्मनिरत थे। वे लोग मानव होकर भी देवलोक में अनायास ही गमनागमन कर सकते थे, अथवा वे लोग यथार्थतः ही देवसदृश थे। सत्य युग में राजागण सत्य संकल्प और प्रजापालन तत्पर थे। मानव मात्र ही परस्त्री को जननी, परसन्तान को निज सन्तान एवं परधन को लोष्ठवत् जानते थे, सभी लोग सदाशय एवं सतत् हृष्टचित्त थे। पृथ्वी भी तब समुर्वरा एवं सर्वशस्य सम्पन्ना थी।

अनन्तर त्रेता युग में धर्म का किञ्चित व्यतिक्रम हुआ, मानवगण वेद विहित कर्म द्वारा अभिलषित कर्म साधन करने में अशक्त हुये। तब वेद के आंशिक अर्थ युक्त स्मृति रूप शास्त्रों की सहायता से साधना करके मानव समूह उद्धार प्राप्त करने लगा। द्वापर में धर्म का द्विपाद नष्ट हुआ और तब संहिता आदि की सहायता से मानव रक्षा पाने लगा। इस समय सर्बधर्म-विलोपकारी महापापमय कलियुग का आविर्भाव है, सत्य का एक पाद मात्र विद्यमान है जिसके नष्ट होने पर संसार में धर्म विल्कुल ही विलुप्त हो जायगा। पूज्यपाद ऋषियों ने सुदूर अतीत के आसन पर बैठकर यह पहले ही स्पष्ट अनुभव किया था। इसीलिए उनलोगों ने अत्यन्त कृपावश कलियुग का एकमात्र अवलम्बन शिवोक्त सत्य 'आगमशास्त्र' की रक्षा कर गए हैं।

सतत् स्नेहशीला, सर्वमंगलमयी, जगज्जननी माँ ने हम अबोध पुत्रों की हितकामना हेतु प्रश्न किया– "कलियुग में स्वभावतः पापमलिन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रगणों में से कोई भी पवित्र-अपवित्र का विचार नही रख सकेगा, अतएव वेदविहित कर्म द्वारा किस प्रकार सिद्धि लाभ करने ने समर्थ होंगे। जगतपिता देवाधिदेव सदाशिव ने उत्तर दिया–

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यं मयोच्यते
विनागमोक्त विधानेन कलौ नास्ति गतिः प्रिये
श्रुतिस्मृतिपुराणादौ मयैवोक्त पुरा शिवे
आगमोक्तविधानेन कलौ देवान यजेत्सुधीः

अर्थात् कलियुग में तंत्र उल्लंघन करके अन्य पथ के पथिक होने से उसका उद्धार नहीं हो सकता। तंत्र कलियुग के लिये विशिष्ट सोपान स्वरूप हैं। मङ्गलमय शिव ने, कलियुग के जीवों के मङ्गल के लिये 'महा-विद्यातत्व' का प्रकाश किया है। उपयुक्त समय पर जीवजगत आद्याशक्ति वा महाविद्यातत्व से अवश्य ही अवगत होगा। यह उसी महामाया का जाल है। यह महाविद्या तत्व तन्त्र में अति गूढ़ रूप से वर्णित सिद्ध गुरु द्वारा वोधगम्य है।

तन्त्र क्या है ?

शिव-शक्ति प्रोक्त साधन-विषयक सभी शास्त्र 'तन्त्र' नाम से अभिहित हैं। आर्यगण आदि युग से ही वेद या त्रयीशास्त्र के उपासक रहे हैं। गीति, गद्य और पद्य अथवा कर्म, उपासना और ज्ञान यथाक्रम से ब्राह्मण, संहिता और उपनिषद् इन तीनों प्रकारों को लेकर ही वेद का नामान्तर 'त्रयी' है। ऋक, यजुः, साम, अथर्व इन चारों वेदों को 'त्रयी' कहते हैं। यह त्रयीशास्त्र' यथाक्रम से स्वयंभू के चतुर्मुख से प्रकाशित हुए हैं अथवा पवित्र चतुर्वेद ही अलौकिक भाव से उनके चतुर्मुख हैं, ऐसा शास्त्र में वर्णन है। इन वेदों का ही क्रिया सिद्ध या साधन अंश (**Practical part**) मात्र स्वयंभू शंकर के पंचम मुख से प्रकाशित हुआ है (आगमः पञ्चमो वेदः) उर्द्धाम्नाय या तंत्र शास्त्र के नाम से प्रकाशित हैं। इसीलिये शिव को 'पंचवक्तृ' या 'पन्चानन' के रूप में पूजा होती है। वह उध्वर्म्नाय तन्त्र ही सात्विक साधनानुकूल सुतंत्र है।

'उध्वर्म्नायोदितम् कर्म दिव्यभावाश्रितं प्रिये'।

शास्त्रों में वर्णन है कि भगवान विष्णु ने जब यह सुना कि पञ्चानन के ऊध्वर्म्नाय से शास्त्र का प्रकाश हुआ है, तो वे शीघ्र ही शिव के निकट आकर विनयपूर्वक कहा, "देव! जीवजगत सभी यदि ऊर्द्धाम्नाय की सहायता से मुक्ति लाभ करेगा तो ब्रह्मनुकल्पित ब्रह्माण्ड की रक्षा कैसे होगी? शिव ने तुरन्त तभी 'अधोम्नाय' के नाम से कुछ आसुरिक तन्त्र, षष्ठ आम्नाय या निम्नमार्ग से प्रकाशित किया। यही हैं लौकिक कर्म और वाह्य-विभूति सिद्धिप्रद कुतन्त्र। वर्तमान काल में लौकिक भोगाभिलाषी साधारण साधकों की अनभिज्ञता के कारण उध्वर्म्नाय एवं अधोम्नाय की निर्दिष्ट क्रिया और उपासना परस्पर मिलित हो गई है। सुविज्ञ गुरू के उपदेश के अलावा स्वयं उसका निर्वाचन अत्यन्त कठिन है। अधोम्नाय शास्त्र भी अग्राह्य विषय नहीं हैं। वे भी अत्यन्त गम्भीर एवं रहस्यपूर्ण हैं।

साधन शास्त्र आगम और निगम भेद से दो प्रकार के हैं।

आगतं शम्भुवक्त्रेभ्यां गतञ्च गिरिजाश्रुतौ।
मतञ्च वासुदेवेन तस्मात् आगम उच्यते ॥
निर्गता गिरिजा वक्त्रात् गतञ्च गिरीशश्रुतिम्।
मतञ्च वासुदेवस्य निगमः परिकथ्यते ॥

आगमों में साधनाधिक्य है तथा निगमों में विज्ञानाधिक्य है। यह आगम और निगमोक्त साधन ही वेदगर्भ 'तान्त्रिक साधना' कही जाती है। गृहस्थों की नित्य क्रिया से शैव, सौर, शाक्त, वैष्णव और गाणपत्य साधकों के अनुकूल पञ्च सगुण उपासना से लेकर क्रम से निर्गुण उपासना पर्यन्त सभी इसके अर्न्तनिविष्ट हैं। वेदों में सिद्धान्त रूप से जो वर्णित है, उसी का क्रियांश या साधनांश तन्त्र में पूर्ण एवं अति विस्तृत रूप से वर्णित है। ब्रह्म ज्ञान लाभ का सरल एवं शीघ्र फलदायी प्रत्यक्ष साधन तत्व इसके अलावा अन्य किसी शास्त्र में नहीं है। इसीलिए तंत्र 'गुरुशास्त्र' के रूप में वर्णित हैं।

तन्त्र साधना का अपूर्व सोपान है। धीरे-धीरे निम्न स्तर से उच्च एवं सर्वोच्च अद्वैत ब्रह्म साधना पर्यन्त इस प्रकार का सरल, सुनियमित सोपानावली और किसी शास्त्र में नहीं है।

तन्त्र=तन् (विस्तार करना)+त्र (त्राण या मुक्त करना)

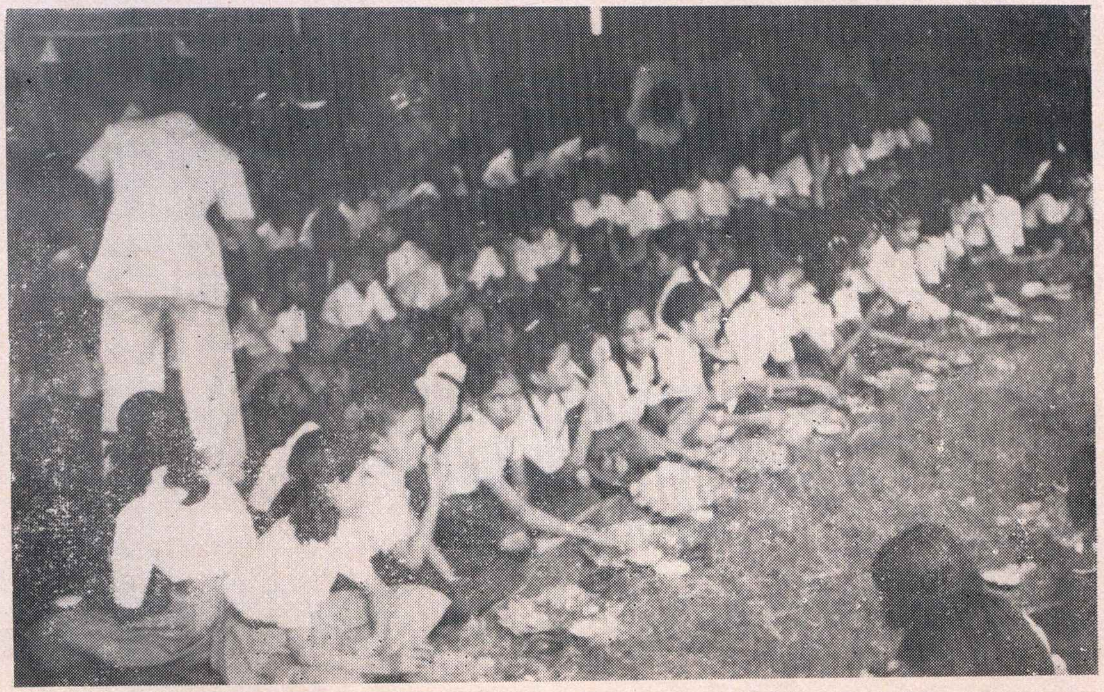
परमात्मा से जिस प्रकार आत्म-विन्दु अविद्या या कारण सलिल में प्रतिबिम्बत होकर पहले कारण देह, बाद में सूक्ष्म देह एवं अन्त में स्थूल देह में विस्तार लाभ करके देहात्मवोध (बुद्धि) सम्पन्न जीव रूप में परिणत हुआ है, वह जिस साधनोपाय के द्वारा पुनः उसी तनु व तन अर्थात् जीवभाव मय देहत्रय (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) से त्राण अथवा मुक्ति प्राप्त कर सके, उसी का नाम तन्त्र है।

जय माँ !!

—: ० :—



माता आनन्दमयी श्री कविराजजी के सान्निध्य में



क॰ि।राज भवन में कुमारी सेवा



बाबा श्री विशुद्धानन्द जी



श्री नवमुन्डी आसन विशुद्धानन्द कानन, मलदहिया वाराणसी

आत्म दर्शन की तांत्रिक साधना पद्धति

–रमेश चन्द्र गुप्त, लखनऊ

आत्म दर्शन के लिए जिस तांत्रिक साधना पद्धति का संचालन करने का भार महातन्त्रयोगी पं० गोपीनाथ कविराज जी अपने मानसपुत्र परमपूज्य योगिराज दादा सीताराम जी महाराज को सौंप गये हैं, वह प्रक्रिया तान्त्रिक ग्रन्थ 'प्रत्यभिज्ञा हृदयम्' में मिलती है। 'प्रत्यभिज्ञा हृदयम्' का एक सूत्र है, 'मध्य बिकासाच्चिदानन्द लाभः'। मध्य यानी सुषुम्णा के विकास से ही चिदानन्द का लाभ प्राप्त होगा। किस प्रकार पूज्य दादा जी इस पद्धति का संचालन कर रहे हैं वह मैं निम्न पंक्तियों में आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूं।

पूज्य दादा जी साधक को आरम्भ से ही कारण शरीर की दीक्षा प्रदान करते हैं। वे शक्तिपात द्वारा साधक के सस्कारों को खींचकर उनका क्षय करके उसको ब्रह्मरन्ध्र, सोमचक्र, नासिकाग्र और मूलाधार में सुषुम्णा का जो सूक्ष्म स्पन्दन हो रहा है उसको पकड़ा देते हैं। बाद में धीरे-धीरे साधक को आगे बढ़ाने के लिए जब साधक उनसे मिलता है, वे पुनः शक्तिपात करके उसके संस्कारों को खींचकर और उनका क्षय करके या तो उसको ठीक कर देते हैं या उसको आगे बढ़ा देते हैं। यही क्रम चलता रहता है।

दूसरे परम पूज्य गुरुदेव जी शक्तिपात द्वारा शिष्य को गुरु शक्ति से आरम्भ में ही युक्त कर देते हैं। यह गुरूशक्ति ही भगवत् कृपा का प्रारम्भिक अनुभव है जो प्रगाढ़ होकर अन्त में भगवत् कृपा का रूप धारण कर लेती है।

यह गुरूशक्ति ही शिष्य को मध्याकर्षण से, जो भ्रूमध्य से मूलाधार तक वर्तमान है खींचकर ऊर्ध्वाकर्षण में ले जाती है जहां जीव स्वभाव के स्रोत में पड़कर जीवनमुक्त हो जाता है।

यह साधना पद्धति सहज और निरपेक्ष है। यह स्वतः चलती रहती है। इसमें किसी इन्द्रिय या श्वास प्रश्वास का सहारा नहीं लेना पड़ता।

इस साधना पद्धति का वर्णन श्रीमद्भगवद्गीता के निम्न श्लोकों में भी मिलता है।

श्रीमद्भगवदगीता में जो मनुष्य जीवन का लक्ष्य है वह निम्न श्लोक में वर्णित है :–

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरा दुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ १४/२०

पुरुष शरीर की उत्पत्ति के कारणरूप इन तीनों गुणों को उल्लंघन करके जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकार के दुखों से मुक्त हुआ परमानन्द को प्राप्त होता है।

इसकी प्राप्ति के लिये गीता के निम्न श्लोकों में साधक के लिये कुछ प्रक्रियायें दी गई हैं।

गीता का एक श्लोक है :-

कार्पण्य दोषो पहत स्वभावः पृच्छामि त्वाम् धर्म समूढ़ चेता ।
यच्छ्रेयः स्थान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वांप्रपन्नम् ॥ २/६

अर्जुन भगवान् कृष्ण से कहता है कि कर्तव्य के विषय में मेरा चित्त मूढ़ हो गया है, मैं आपकी शरण में हूं आपका शिष्य हूं, मुझे उपदेश दीजिए ।

यह गुरू के प्रति शरणागत होने का श्लोक है । जब तक गुरू के प्रति अटूट श्रद्धा न होगी, उनके प्रति पूर्ण शरणागति का भाव न होगा साधक का कल्याण होने वाला नहीं है ।

गीता में साधना सम्बन्धी अन्य श्लोक हैं :-

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधात्मनः प्राणमास्थितो योग धारणाम् ॥ ८/१२

इस क्रिया में शरीर के नव द्वारों को रोककर मन को हृदय में निरुद्ध करके आत्मा या जीव को मूर्धा में ले जाकर प्राणों को स्थिर करने का वर्णन है ।

परम पूज्य दादा जी शक्तिपात द्वारा साधक को आरम्भ में ही ब्रह्मरन्ध्र में जो सुषुम्णा का स्पन्दन हो रहा है उसे पकड़ा देते हैं । इससे जब प्राण मूर्धा में पहुंचते हैं तो प्रदत्त साधना क्रम में किसी प्रकार की हानि होने की सम्भावना नहीं रहती ।

नवद्वार मध्याकर्षण में डालते हैं और दशम द्वार ही मध्याकर्षण से खींचकर ऊर्ध्वाकर्षण में ले जाता है । परम पूज्य गुरू जी इस दशम द्वार को खोल देते हैं ।

गीता के इस श्लोक में मध्याकर्षण से ऊर्ध्वाकर्षण में जाने की प्रक्रिया निहित है ।

इस सम्बन्ध में परमहंसदेव श्रीविशुद्धानन्द जी का कथन है कि, "जीव का सारा नीच भाव केवल मध्याकर्षण के कारण है । स्थूल वायुमण्डल पर्यन्त जहाँ तक मध्याकर्षण की क्रिया विद्यमान है वहाँ तक पार्थिव वासनाओं तथा कामनाओं की छाया घिरी हुई है । मृत्यु के बाद भी जीव इन सकल वासनाओं से लिपटा रहता है तथा मध्याकर्षण से नीचे की ओर खिंचकर वासनायुक्त योनियों में जन्म लेने के लिए बाध्य होता है । स्थूल वायु की सीमा को लंघन करके निर्मल नभोराज्य (आकाश या शून्य राज्य) में विचरण की सामर्थ्य अर्जन न कर पाने तक मृत्यु को जय करके जन्म के अतीत शुद्ध दशा प्राप्त होने की आशा नहीं है ।"

श्रीमद्भगवद् गीता की यह प्रक्रिया अत्यन्त कठिन है । लेकिन कुछ साल साधना करने के पश्चात इतनी कठिन प्रक्रिया भी सहज (स्वाभाविक) हो जाती है । यह बात आरम्भ में आसानी से समझ में भी नहीं आती कि इतनी कठिन प्रक्रिया भी सहज रूप धारण कर सकती है ।

सारी प्रक्रियाओं को निरपेक्ष व सहज स्वरूप प्रदान करना पूज्य दादा जी जैसे पूर्ण सिद्ध योगी के लिए ही सम्भव है ।

इसके पश्चत् साधना सम्बन्धी गीता में अन्य श्लोक हैं :-

समं काय शिरो ग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।

सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन ॥ ६/१३

इस श्लोक में काया, सिर और गर्दन को समान एवं अचल धारण करके स्थिर होकर अन्य दिशाओं को न देखते हुए नासिकाग्र पर ध्यान करने का वर्णन है ।

यहाँ पर भी नासिकाग्र में सुषुम्णा का जो सूक्ष्म स्पन्दन हो रहा है उसे पूज्य दादा जी शक्तिपात द्वारा आरम्भ में ही साधक को पकड़ा देते हैं । यह अन्तः प्रवेश द्वार है ।

इसी क्रम में गीता का अन्य श्लोक है :-

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः,

प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ ५/२७

इस श्लोक में बाहर के विषय भोगों का न चिन्तन करता हुआ बाहर ही निकालकर नेत्रों की दृष्टि को भृकुटी के बीच में स्थित करके नासिका में विचरने वाले प्राण और अपान वायु को सम करने का वर्णन है ।

प्राण और अपान को सम करने के लिए पूज्य दादा जी ने उपर्युक्त स्थानों में साधक को शक्तिपात के द्वारा सुषुम्णा के स्पन्दन को पकड़ाकर और उसे गुरूशक्ति से युक्त करके नई प्रणाली का सूत्रपात किया है ।

प्राण की उर्ध्वगति है और अपान की अधोगति है । जब तक प्राण और अपान की गति सम न होगी तब तक सम्पूर्ण प्राणों का एकाकार होकर चेतना का प्रसार न हो सकेगा और साधक अध्यात्म पथ पर अग्रसर न हो सकेगा ।

जब चेतना का प्रसार होगा तभी साधक कारण शरीर को पार कर महाकारण शरीर में स्थित हो सकेगा ।

यह स्पन्दन प्रणाली और गुरुशक्ति से युक्तता पूज्य कविराज जी की नई देन है जिससे साधक अध्यात्म पथ पर स्वतः चलता रहता है ।

जब साधक महाकारण शरीर में स्थित हो जाता है तब उसे प्रसारित चेतना का दर्शन होने लगता है और सारा विश्व अपने अन्दर अनुभव होने लगता है । इस सम्बन्ध में भगवान शंकराचार्य का निम्न श्लोक बड़ा ही सुन्दर है ।

'विश्वं दर्पण दृश्यमान नगरी तुल्यं निजान्तर्गतम्' । इसकी अनुभूति यहां होने लगती है ।

इसी क्रम में गीता का अन्य श्लोक है :-

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्धया धृति गृहीतया ।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चदपि चिन्तयेत् । ६/२५

इस श्लोक में क्रम क्रम से अभ्यास करते हुए उपरति को प्राप्त होने तथा धैर्ययुक्त बुद्धि के द्वारा मन को आत्मा में स्थिर करने और कुछ न चिन्तन करने का वर्णन है ।

जब साधक प्रसारित चेतना में प्रवेश करता है तब उसे अपनी आत्मा में ही सूक्ष्म मन (बोध) को स्थिर करना चाहिए और कुछ भी चिन्तन न करना चाहिए ।

इसके पश्चात पूज्य दादा जी गुरुशक्ति द्वारा प्रसारित चेतना का अपने अन्दर संकोच (निजस्व) करने के लिए बड़ी सुन्दर और विलक्षण प्रक्रिया देते हैं । गुरु कृपा द्वारा ही प्रसारित चेतना का संकोच सम्भव है । यह कार्य साधन साध्य नहीं है । जब प्रसारित चेतना का संकोच हो जाता है तो साधक सरल गति से बड़ी आसानी से आगे बढ़ने लगता है ।

जब गुरु कृपा से प्रसारित चेतना संकुचित होकर स्वबोध में निजस्व होती है तब मन, प्राण, बुद्धि, अहंकार आदि सभी उस चेतना बिन्दु में समा जाता है, बुद्धि स्थिर हो जाती है और तभी साधक स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों मलिन शरीरों के धर्मों को छोड़कर अपने अन्दर ही गुरुशक्ति से युक्त होकर पूर्ण रूप से शरणागत होने में समर्थ होता है ।

इस शरणागति के सम्बन्ध में गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने बड़ा ही सुन्दर उपदेश दिया है ।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहंत्वाम् सर्व पापेभ्यो मोक्षियष्यामि मा शुचः ।। १८/६६

स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों मलिन शरीरों के धर्मों को छोड़कर तू मेरी शरण में आ जा । मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा । तू शोक मत कर ।

अपने अन्दर शरणागत होने पर ही साधक के संस्कारों का क्षय होता है, पापों से मुक्ति मिलती है और आगे अध्यात्म पथ पर अग्रसर होने पर साधक परमानन्दमयी मां की गोद में जा बैठता है और वहां चिदानन्द का लाभ प्राप्त करता है ।

यह स्वतः होने वाली स्पन्दन प्रक्रिया देकर और गुरुशक्ति से युक्त करके अध्यात्म पथ पर अग्रसर होने के लिए पूज्य कविराज जी ने जगत को नई दिशा प्रदान की है ।

इसके लिए सकल मानवता तथा विशेष रूप से साधक वर्ग सदा ही उनका ऋणी रहेगा । यह ऐसा ऋण है जो मातृ ऋण की भाँति चुकाया नहीं जा सकता ।

अन्त में हम उनको कोटिशः प्रणाम करते हुए उनसे प्रार्थना करते हैं कि अखण्ड महायोग के पथ पर वे सतत् हमारा मार्गदर्शन करते रहें ।

गुरु कृपा रहस्य

–प्रस्तुति श्रीनारायण

एक ओर जीवन है जो इच्छा-ज्ञान-क्रिया की त्रिपुटी पर संयोजित है। दूसरी ओर संसार से अतीत की सत्ता है, जो बोध-आनन्द और प्रेम के मिलित विन्दु में, अपने आपके अनन्त लक्ष्य में गतिशील है। गति दोनों में होंने पर भी एक में चक्रीय तथा द्वितीय में उर्ध्वारोहिणी स्पन्दनात्मिका गति का आभास प्राप्त होता है।

मनुष्य इन दोनों गतियों का संधिस्थल है। उसके एक ओर चक्रीय गाति की परिधि का वेग है तो दूसरी ओर लक्ष्यात्मिका उर्ध्वारोहिणी गति भी अपने उन्मुक्त क्षणों में अप्रतिहत वेग से गतिमान होने को समुत्सुक है। बीच में वह पथभ्रान्त सा खड़ा है।

कहते हैं कि गति के इन दोनों व्यक्त एवं अव्यक्त रूप का प्रादुर्भाव एकमात्र मनुष्य में ही सम्भव है। इसके साथ ही उसे दोनों में से एक को चुनने का, चयन करने का पूर्ण स्वातंत्र्य भी प्राप्त है। भौतिक जीवन में रहते-रहते अपना अभीप्सित गति का चयन करके मानव को अपने गन्तव्य का निर्धारण करना ही होगा। इसके साथ-साथ दोनों गतियों की संधिरूप में स्थित उसका अपना निज स्वरूप भी उद्घाटित होना आवश्यक है। कारण संधि का संधान हुये बिना ऋत का परिज्ञान कैसे होगा? "ऋते न संधि संधानात्"

मनुष्य संसार एवं संसारातीत की संधि स्वयं है। इसी कारण महाभारत में मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ सत्य के रूप में अंकित किया गया है।

अतएव जब मनुष्य अपने विचारों की परिपक्वता से, अथवा किसी अचिन्त्य कारण से, अपने से अतिरिक्त की खोज से उपरत होने लगता है, उसी क्षण से उसकी बौद्धिक खोज प्राप्ति की गगनचुम्बी चोटियों की विश्वव्यापी विशालता तक जा पहुंचती है, तथापि वह विश्वातीत सत्ता के बोध, आनन्द एवं प्रेमरस के मिलित विन्दु से निःसृत पुस्करिणी का अमृत पान करने से वंचित ही रहता है। कारण कोई भी बौद्धिक क्षमता उस विन्दु का स्पर्श कर सकने में असमर्थ है।

प्राप्तव्य की प्राप्ति न होने पर, तथापि प्राप्तव्य के प्रति आपूरित उत्कण्ठा रहने पर, मनुष्य में वास्तविक जिज्ञासा उमड़ उठती है। यह जिज्ञासा किसी प्रकार की बौद्धिक जिज्ञासा

न होकर प्राणों भरी वेदना, हृदय का शाश्वत प्रश्न अथवा "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" का पूर्व रूप है। इसका समाधान न मिलने तक, न तो दिन में चैन है, न रात्रि में पलकें ही ढलती हैं। प्रश्न न हल होने की वेदना के कारण वह आर्त है, पृष्ठभूमि में उठी जिज्ञासा के कारण जिज्ञासु भी है। वह परम अर्थ के प्रति अपनी आकांक्ष्य वृत्ति के कारण अर्थार्थी होने के साथ-साथ ज्ञानी भी है, कारण उसे ज्ञात है कि वह अपना गंतव्य स्वयं ही है।

जिज्ञासा के पश्चात् अन्वेषणार्थ अथवा समाधान के लिये जो कुछ अनुष्ठित होता है, वह है "कर्म"। कर्म जीवन की प्रमुख शक्ति है। जिज्ञासु की इच्छा शक्ति एवं कर्म की अनुसंधानात्मिका वृत्ति का सम्यक् सम्मिलन होने पर ज्ञान का उदय होता है। कर्म क्या है? कर्म है जिज्ञासु की इच्छा और उसके मन का पारस्परिक संघर्ष। कर्म के अभाव में संधि का संधान दुष्कर कार्य है। अतः "कर्मेभ्यो नमः" की उक्ति अक्षरशः सत्य है।

जिज्ञासु की यह स्वप्रेरित प्रक्रिया है "धमयात्रा। इसका सर्वप्रथम रूप यह है कि मनुष्य अपनी सत्ता से किसी उच्चतर सत्ता की परिकल्पना करता है। मनुष्य की यह परिकल्पना परम सत्ता के यथार्थ बिम्ब का प्रतिबिम्ब है, सद्वस्तु के बिम्ब का प्रतिबिम्ब। अतः यह अलीक न होकर वास्तविक भी है। इस कल्पना का फल मृषा नहीं होगा। कवि कालिदास कहते हैं :–

स्वप्नदृष्टमसदिव्यसद्वचो
दिव्य एष यदिह प्रभाषितः।
कल्पनापि न मृषा फलं शिवे॥

यह है मनुष्य की सामान्य गति। प्रारम्भ में जो जिज्ञासा भरी वृत्ति उपजती है, वही कर्म रूपी प्रक्रिया से गतिमान हो जाती है। इस खोज में वास्तविक मार्ग का संधान न मिलने से जिज्ञासु में निःसहायता, निःसंबलता रूपी उत्सर्ग का आविर्भाव होता है। जो शक्ति इस शून्य स्थिति का उद्भव कराती है, वह है हमारी परिकल्पित प्रतिबिम्बमयी उच्चतर सत्ता के यथार्थ बिम्ब से निःसृत कृपाशक्ति। यह कृपाशक्ति अचिन्त्य एवं अहैतुकी है। यह उसी पर संकेन्द्रित होती है जो अपने प्रत्येक जैबकोषों में अपनी अक्षम एव निःसहाय स्थिति का अनुभव कर प्रतिबिम्बमयी उच्चतर सत्ता को समर्पित हो जाता है, तथापि जिज्ञासा का समाधान पाने के लिये मन अथवा बुद्धि उसे चैन नहीं लेने देते। यह जिज्ञासु साधारण मानव जीवन में न्यस्त रहता हुआ भी गुप्त वृन्दावन के अदूर परदे के पीछे हो रही वंशी की तान सुनकर अपनी सुधबुध खो बैठा है। उसे तब तक कल नहीं है, जब तक वह वंशीवादक का सन्धान न पा ले। पार्थिव भौतिक जगत के समस्त सौन्दर्य और आनन्द के आकर्षण अब कहीं और संकेन्द्रित होने लगते हैं।

जिस शून्यवत् अवस्था का उदय निर्वेद अवस्था में होता है, वह साधक के लिये अत्यन्त हितकारी है। यह स्थिति पृथ्वी तत्व के सूक्ष्मांश का रोध करती है। वह सूक्ष्मांश व्यक्तित्व को सतत् अपनी ओर खींचता रहता है। इसके कारण जिस मध्याकर्षण का उदय होता है, वह अपनी

चक्रीय परिधि में व्यक्तित्व को खींचकर सतत् उलझाये सा रहता है। इसी के निराकरण के लिये अचिन्त्य अनन्त की कृपा से यथार्थ साधक को इस अवस्था में जाना ही पड़ता है।

इस शून्य का उदय कहां होता है? यह शून्य उदित होता है निम्नतर मन पर। (अभी साधना के क्रम विकास में मन के मध्य तथा उच्च स्तर पर और बुद्धि की भित्ति पर भी शून्योदय होना शेष है, पर यह प्रक्रिया गुरु दर्शन के पश्चात् होती है) मन के निम्नतर भाग में अशुद्धि सम्बन्धी प्राकृतिक बाधायें विद्यमान रहती हैं। अन्त:करण की पूर्ण क्रिया इसे परिशोधित करने पर ही अनुभूत होती है। इंद्रिय जनित शरीर बोध, मानसिक संवेदन, स्थूल भावावेश, क्रियाशील आवेग तथा बुद्धि एवं संकल्प की शिथिलता का यही जनक भी है। इसका सूक्ष्म क्षुधा हमारी सारी सत्ता में फैली रहती है। स्वभाव से यह दुष्पूर है। इसमें भयजनित जुगुप्सा, आतंक तथा आशाजनित आयास एवं निराशा गर्भगत रहती है। इस निम्नतर मन का क्रमिक शमन हो ही नहीं सकता। इसी कारण अचिन्त्य अनन्त ने इस प्राथमिक शून्य का नियम बनाया है। इस शून्योदय के साथ-साथ जिज्ञासु एक अज्ञात अबूझे स्तर में उपनीत हो जाता है। कवि कहते हैं यह स्थिति अजब भूल-भुलैया सी है, जहाँ अपना नाम धाम भी विस्मृत है—

"मारग अगम संग नहि सम्बल
नाम गांव कर भूला रे।"

यह सृष्टि नियमों से बधी हुई है। यहां के नियम अकाट्य हैं। नियम यह है कि जगत में कहीं भी शून्य नहीं रह सकता। कहीं शून्य होते ही वहां चारों ओर से कुछ न कुछ खिंचा चला आता है। इस प्रकार की अवस्था का उदय होने पर उपरोक्त शून्य में जिस केन्द्राभिमुखी आकर्षण का उदय होता है, उससे जिज्ञासु की जिज्ञासा को प्रशमित करने के लिए यथार्थ सद्गुरु की दृष्टि आकर्षित हो जाती है। जिसमें जितने अधिक केन्द्राभिमुखी आकर्षण युक्त शून्य का उदय हुआ है, उस पर उतने ही शक्तिमान गुरु की दृष्टि नि:क्षिप्त होती है। जिसमें जितने न्यून आकर्षणयुक्त शून्य का आविर्भाव हुआ है, उसे उसी मात्रा में शक्ति वाले गुरु का संधान मिलता है। यदि न्यून मात्रा का आकर्षण धारण करने वाले जिज्ञासु को, तुलनात्मक रूप से अधिकाधिक शक्तिशाली गुरू का सान्निध्य प्राप्त हो तथा उनसे शक्तिपात रूपी दीक्षा भी प्राप्त हो, तथापि न्यून आकर्षण युक्त जिज्ञासु में वह दीक्षा शक्ति पूर्णत: प्रविष्ट नहीं हो पाती, कारण वहां का शून्य पुष्ट नहीं है और इस कारण उसमें आकर्षण रूपी ग्राहिका शक्ति का अभाव है। ऐसे जिज्ञासु गुरू के वास्तविक तत्व का आभास पाने में असमर्थ रहते हैं और साधना के प्रति सर्मपित नहीं हो सकते।

इसी कारण शास्त्रों में अन्तर्जिज्ञासा के पूर्ण उदय (मुमुक्षत्व) को विशेष महत्व दिया गया है। इसके मात्रागत तारतम्य पर तदनुरूप मात्रा में ही विकास होता है और उसी परिमाण में दीक्षाकाल की गुरु कृपा जिज्ञासु में प्रविष्ट हो सकती है।

परम शिव से

—रमेश चन्द्र अवस्थी, लखनऊ केन्द्र

स्थूल गरल का पान किया था, सूक्ष्म गरल अब पी लो,
धधक रही धरती के कण कण व्याप्त विषों को पी लो।
काम क्रोध मद लोभ विकम्पित दलित सृष्टि के कंठहार
कौतूहल में ही देवों के अनुनय से विष पीकर
सृष्टि सुरक्षा की थी तुमने ;
यह स्थूल विष-पान सरल है ;
है अनर्थकारी प्रलयंकर, जग में भरा हलाहल।
हो असली पुरुषार्थ तुम्हारा—कालजयी यदि इसको पी लो।
अगम अगोचर अविनाशी शिव,
भालचन्द्र सिर जटा जूट जल गंगधार!
बाघम्बर विषधर लपेट कमलासनस्थ,
तुम त्रिनेत्र गौरांग भस्ममय त्रिपुण्डधार!
व्याप्त सकल सचराचर हो शिव संघारक पोषक इस जग के,
शूल पाश माला कर कमण्डल गल मुण्डहार!
क्लेश हीन व्रह्माण्ड बने हे मृत्युञ्जय इस विष को पी लो!
प्रति क्षण मन्थन करते मन जल निधि का,
गुण अमृत है, दोष बना विष—विजयी दोनों के मृत्युञ्जय!
सृष्टि मूल में अग्नि पिता है, जल है माता
पूजित अग्नि देव से तुम हो ज्योति प्रकाश ऊष्मा अधिपति
जल के अधिपति वरुण निशा तुम हिम प्रतीक हो ;
एक देव की शक्ति, दूसरी है दानव की
दोनों की प्राणाग्नि तुम्हीं हो—इसे प्रज्वलित कर दो शंकर!
धरा धूसरित पाप पंक के विष को पी लो!
तुम चिन्मय आकाश सदा शिव, पुरुष सनातन
प्रलय काल में आदि सृष्टि अवशेष तुम्हारा रुद्र रूप ही
व्रात्य विचरता कण कण में, करता नभ नर्तन!
घन गर्जन ही श्वास और उच्छवास तुम्हारा स्पन्दन
तुम व्यापक अव्यक्त तुम्हारा मूर्तरूप है शब्द
जग विष व्यापी नील गगन ही नील कण्ठ है!
चन्द्र सूर्य अवतरण बनो प्रलयंकर! इसको पी लो!

—:०:—

कविराज जी : एक संस्मरण

प्रातःस्मरणीय परमपूज्य कविराज जी की इस पुण्य स्मृति के अवसर पर इस भावुक हृदय में जो भाव उठ रहे हैं ; उनके लिए शब्द नहीं हैं कि व्यक्त हो सकें, बस भीतर अथाह कृपा का तरंगित उल्लास और बाहर से आंखे भर आती हैं।

सन १९७४ के प्रारम्भ में गुरूदेव "दादा" सीताराम जी के चरणों में अखण्ड महायोग की धारा की दीक्षा ली थी। तभी से मैं "दादा" जी के साथ पूज्य श्री चरणों के संपर्क में आया। मैं पूज्य कविराज जी को 'बाबा' संज्ञा से सम्बोधित करता था। भदैनी क्षेत्र के माँ आनन्दमयी आश्रम में मैं पूज्य "दादा" जी के साथ नित्य सायं को 'बाबा' के दर्शनों के लिए जाता था। उनकी शब्द-ध्वनि आज भी हृदय में गूंजती रहती है। उनके पास जाने पर उनकी मधुर आवाज उठती थी, 'के' ? मैं बोलता था, 'बाबा आमी शुक्ला, दादार शिष्य'। उनकी दृष्टि मेरी ओर उठती थी, बड़े प्यार व स्नेहिल भाव से वे अपने पास बिठाते, मैं श्री चरणों में प्रणाम निवेदन करता तो वे बड़े हौले से मेरा सिर उठाकर बड़ी देर तक सिर पर हाथ फेरते रह जाते थे। कितनी ममता, और सहज मातृ भाव से वे मुझ बच्चे को सहलाते थे कि वर्णन नहीं हो सकता। और मैं उनकी इस कृपा स्पर्श के अति आनन्दमय सिहरन से अनायास ही अबोध रूप में हो जाता था, मानो एक करुणाशक्ति की अजस्र धारा में मैं आत्म प्रफुल्लित होकर बह रहा हूं। कह नहीं सकता कितनी विचित्र लीला उनके करूणा और प्रेम की मेरे अनुभूति में आती थी। इस प्रेम रस के लोभ में सहज भाव से वहां बिना नागा जाने लगा। उनके सान्निध्य में एक अजीब मस्ती थी।

उसके बाद तो बहुत घटनायें हैं, जो मेरी स्मृति पटल पर साकार हो रही हैं। एक अप्रत्याशित घटना का उल्लेख कर रहा हूं। 'बाबा' के शरीर संकोच के उपरान्त उसी साल सन् १९७६ शरद नवरात्रि में मैं "दादा" जी के साथ माँ आनन्दमयी आश्रम के ऊपरी सीढ़ियों पर सायं गोधूलि बेला में गंगा की छटा बड़ी मस्ती से निहार रहा था। सहसा देख रहा हूं कि मेरे 'बाबा' पूज्य कविराज जी प्रसन्न व शांत मुद्रा में सामने से आकर मेरे बगल से सीढ़ियां उतरते जा रहे हैं। मैं अपलक देख रहा था। जैसे ही वे बगल से आगे बढ़े, मेरे मुंह से एक सहर्षित तेज चीख निकली "अरे! गुरूजी" और मैं चबूतरे पर साष्टांग दण्डवत् की मुद्रा में लेट गया। भावभय होकर बोला 'बाबा' तभी देख रहा हूं 'बाबा' गोपाल मदिर में सीढ़ियां उतरते चले गए। उस समय गुरूजी ('दादा' जी को मैं गुरूजी संबोधित करता था) की आंखें न जाने क्या निहार रही थीं, मेरी चीख से उनकी शाम्भवी मुद्रा टूटी और तत्काल पूछा 'क्या' जब मैंने गुरू जी से बाबा के साक्षात् दर्शन का जिक्र किया तो वे, बस इतना बोले, "हाँ तुम भाग्यशाली

हो" । इस दर्शन के प्रभाव से कई दिनों तक एक आनन्द की अनुभूति बनी रही । इस पहले अप्रत्याशित दर्शन के बाद तो कई अलौकिक घटना चक्र हैं, जो अवर्णनीय हैं ।

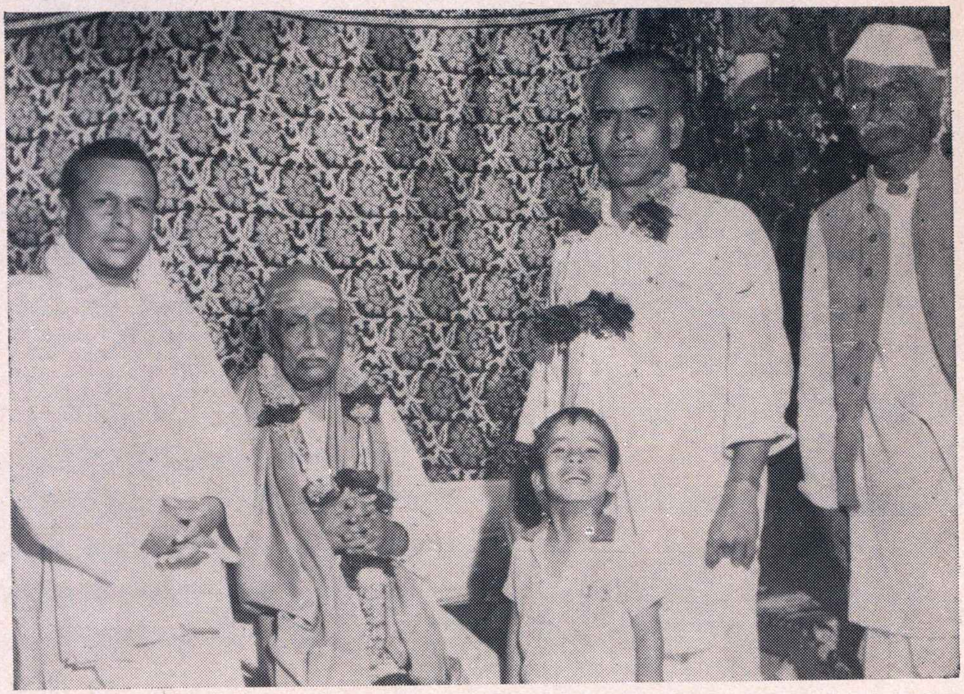
इतना अवश्य कहना चाहूंगा कि पूज्य चरण श्री कविराज जी का स्थूल शरीर आज भी वैसा ही है । हां वह पूर्ण स्वस्थ हैं और शरीर पर जरा का कोई वांछित प्रभाव नहीं है । उनके प्रति अन्तर की तीव्र आर्त वेदना और आकुलता होने पर करुणामय अवश्य कृपा करते हैं । मातृ स्वरूप "बाबा" को साष्टाँग प्रणाम स्वीकार हो । जय माँ !!

ॐ माँ

अखण्ड महायोग

जिस अखण्ड ज्योति का साक्षात्कार परम शिव स्वरूप भृगुरामदेव परमहंस ने दिव्य ज्ञानगंज धाम में प्राणिमात्र की आत्यंतिक दुःख निवृत्ति के लिए किया, उस ज्योति के केन्द्रीयकरण से आविर्भूत योगिराजाधिराज विशुद्धानन्द परमहंसदेव की कृपा का कोष-महातन्त्रयोगी महामहोपाध्याय डा. पं. गोपीनाथ जी कविराज की ऋतम्भरा प्रज्ञा के माध्यम से योगीराज दादा सीताराम को अखंड महायोग के रूप में प्राप्त है । यह महायोग समस्त कामनाओं का परिपूरक सिद्धविद्या रूप महौषधि है । कामधेनुरूपा इस विद्या की प्राप्ति कर सब आप्यायित हों ।

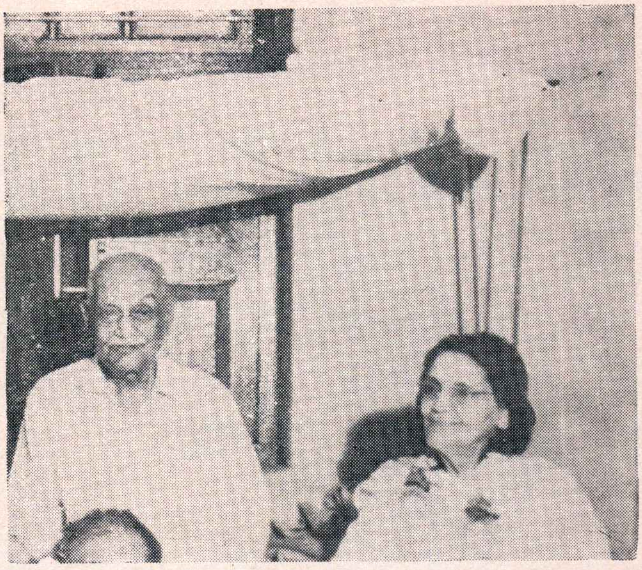
चिन्तामणिभद्रघटः सिद्धविद्या महौषधि
भवेयं कल्पवृक्षश्च, कामधेनुश्च देहिनाम् ।



श्री कविराज जी दादा जी तथा अन्य स्वजन



कविराज कक्ष में डा० कर्ण सिंह



श्री कविराज जी माता आनन्दमयी के साथ



बाबा श्री श्री विशुद्धानन्द जी परमहंस देव

परमहंस विशुद्धानन्दजी के उपदेश वाक्य

कर्म नहीं करने से कुछ होगा नहीं, कर्म करना होगा। बातों से कुछ नहीं होता। कर्म अर्थात् गुरूपदिष्ट योगाभ्यास। कर्मेभ्यो नमः। अविश्रान्त कर्म करते जाओ फल निश्चय ही होगा, कोई रोक नहीं सकेगा। केवल शास्त्र पढ़ने से कुछ नहीं होगा। रसगुल्ला की कथा सुनने से रसगुल्ला का स्वाद पाया नहीं जा सकता। खाना होगा, तभी जान पावोगे कि रसगुल्ला क्या है। अतः कर्म करो, इसी से सब होगा। कर्म से ज्ञान, ज्ञान से भक्ति तथा भक्ति से प्रेम का प्रादुर्भाव होगा। कर्म करना चाहिए, कर्म ही प्रधान है अतएव कर्मेभ्यो नमः।

x x x

तीव्र पुरुषकार द्वारा प्राक्तन कर्मों का खण्डन भी किया जा सकता है, विधि का विधान भी उल्टाया जा सकता है। किन्तु पुरुषकार और कृपा परस्पर आश्रित हैं। मात्र कृपा होने से ही तो इष्टसिद्धि नहीं होती जब तक कि उसके साथ पुरुषकार का योग न हो। तीव्र पुरुषकार रहने से आवश्यक कृपा स्वतः जगती है—आश्रय ग्रहण स्वतः होता है। जीव की प्रसुप्त शक्ति को जगाने के लिए ही 'क्रिया' या पुरुषकार का प्रयोजन है। जड़ के अन्तराल में यह चित् शक्ति है। शक्ति की आराधना से भिन्न शक्ति लाभ नहीं होती। उस महाशक्ति की आराधना करो। स्वयं को शक्तिमान करो, तेजोमय करो। परमात्मा कृपा करने के लिए ही गुरु शक्ति के रूप में नीचे आकर जीव को अपने को पकड़ा देते हैं, उसका आकर्षण करते हैं तथा उसको उठाकर ले जाते हैं। यदि कृपा करके वह नीचे नहीं आते तो जीव कदापि आत्मोद्धार का पथ न जान पाता। अतः परमात्मा पर निर्भर रहने का ज्ञान लो, निर्भरता के अलावा जीव की गति नहीं—क्रिया करो, क्रिया करो—उसी से निर्भरता आवेगी। यह निर्भरशीलता वा आत्म समर्पण ही साधन का चरम अध्याय है।

x x x

कोई भी कर्म करना हो तो दृढ़ता के साथ साधना करो। कैसा भी कर्म क्यों न हो उसमें यदि सिद्धिलाभ करना चाहते हो तो उसके उपयुक्त उपाय अवलम्बन करके विशेष दृढ़ता के साथ करते जाओ। तब इधर उधर मत देखो, उसमें अवहेलना मत करो, एकनिष्ठ होकर वह कर्म करते चलो, देखना सुफल होगा ही। उसकी गति को कोई रोक नहीं सकता, ब्रह्मा विष्णु भी नहीं। मनुष्य के लिए असाध्य कुछ भी नहीं। तुम्हारे मध्य ऐसी शक्ति है, जिसको तुम नहीं जानते। दृढ़ता चाहिए, एकनिष्ठ होना चाहिये, उपयुक्त उपाय का अवलम्बन करना चाहिये। सतकर्म में विघ्न बाधा तो है ही। जिसके साथ इतने दिन एक घर में रहे हो वे क्या इतनी सहजता में छोड़ने की इच्छा करेंगे ? अनेक प्रकार की कु-प्रवृत्ति, कु-अभ्यास, असत्‌भाव लेकर हमेशा दिन कटे हैं। इतने दिन तक इनके साथ प्रेम व्यवहार, हेलमेल रहा है तो क्या ये सहजता में तुम्हारा साथ छोड़ देने की इच्छा करेंगी ? वे तुम्हें अनेक प्रकार से बांधने की चेष्टा करेंगी, भुलावा और दिखावा प्रदर्शित करेंगी; किन्तु यदि तुम फिर उनकी तरफ ख्याल न करो, अत्यन्त

दृढ़ हो, तब वे क्रमशः धीरे-धीरे हट जायेंगी। जब वे समझ जायेंगी कि इसके साथ रहने में सुविधा न होगी तब वे तुम्हें परेशान नहीं करेंगी। तब तुम निश्चिन्तता पूर्वक अपना काम कर सकोगे। पहले पहल वहुत दिक्कतें आती हैं, विघ्न उपस्थित होते हैं। किन्तु जब वे देखेंगे कि तुम किसी प्रकार विचलित नहीं होते हो तो वे तुम्हारे निकट नहीं आवेंगे।

x x x

अरे बेटा ! कृपा तो है ही। उसकी कृपा का अभाव कहां ? कृपा सर्वदा ही पूर्ण मात्रा में बरस रही है। सूर्य किरण दे रहे हैं, किन्तु यदि तुम अपने घर के भीतर बन्द होकर बैठे रहो तो क्या सूर्य की किरण का तुम भोग कर सकते हो ? इसी प्रकार कृपा की उपलब्धि करने के लिये कर्म करना होगा। आधार तैयार करना होगा। कृपा के लिए प्रार्थना नहीं करनी पड़ती। क्रिया नहीं करने से, साधना नहीं करने से, योगाभ्यास नहीं करने से, उसकी कृपा जो तुम्हारे ऊपर सर्वदा बरस रही है, उसको समझ नहीं पाओगे। उनका कार्य वह कर रहे हैं। हमलोग तो उनकी सन्तान हैं, सन्तान पर दया करने के लिए क्या पिता से कहना पडता है ? पिता अपनी सन्तान की मंगल कामना में सर्वदा ही व्यस्त हैं। किन्तु सन्तान अज्ञानवशतः सब समय समझ नहीं पाता। वह हमेशा हमलोगों के लिए कृपा का वर्षण कर रहे हैं, हमलोगों की मंगल कामना कर रहे हैं। कृपा समझने के लिए, उपलब्धि करने के लिए कर्म आवश्यक है। कर्म न करने से वह समझ में न आवेगा। कर्म करना चाहिए अतः कर्मेम्यो नमः।

x x x

उपयुक्त समय में सब काम करना। समय व्यतीत होने पर असमय काम करने से सम्यक् फल प्राप्त नहीं होता। क्रिया ठीक समय पर करने से उसका जिस प्रकार फल प्राप्त होता है – असमय में करने से तद्रूप फल प्राप्त नहीं होता। विशेष असुविधा न होने से क्रिया ठीक समय पर ही करना। रात्रि चार बजे उठकर क्रिया पर बैठना एवं सूर्योदय पर्यन्त करना तथा सन्ध्याकाल में ठीक सूर्यास्त के समय क्रिया पर बैठना। इस समय क्रिया पर बैठने से सुफल होगा। अन्यथा उस प्रकार का फल नहीं होगा। किन्तु समय व्यतीत हो गया है इसलिए क्रिया बन्द नहीं करना। क्रिया बन्द करने की अपेक्षा असमय में क्रिया करना अच्छा है, इसमें सन्देह नहीं, फल तो कुछ होगा ही। किन्तु समय पर क्रिया करने की विशेष चेष्टा करना। बापू, याद रखो, "भूख लगने पर भोजन न मिलने से बाद में अमृत भी अच्छा नहीं लगता"।

x x x

कर्म करने से ही प्रवृत्ति होती है। सत्कर्म अनुशीलन करते-करते इस प्रकार अभ्यास हो जायेगा कि फिर उसका त्याग न हो पावेगा। पहले पहल स्वयं चेष्टा करके क्रिया पर बैठना होगा बाद में ऐसा हो जायेगा कि न बैठने पर प्राण छटपट करेंगे। गुरू उपदेश देंगे, बोल देंगे, दिखा देंगे, कार्य तुम्हीं को करना पडेगा। जो कार्य करेगा फल उसी को मिलेगा। दृढ़ता के साथ अपने मंगल के लिए कार्य करना होगा, परिश्रम करना होगा। क्रिया का अभ्यास करने पर वह छूट नहीं सकती। अपने को ही करना होगा। आलस्य का त्याग करना होगा।

—: ० :—

'क्षण' के प्रति

(अखण्ड महायोग में प्रतिपादित 'क्षण' तत्व की सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति)

१

मुझमें इतना सामर्थ्य कहां
करूं व्याख्या साधिकार यहां,
पाया शब्द जो जहां तहां
केवल गूंथा है भाव यहां।

२

अखण्ड महायोग की बातें ऐसी
योग वियोग की लीला जैसी,
क्षण का क्षोभ स्पन्द का फुरना,
एकै मन के दो हैं नयना।

३

चक्की के दुइ पाट का रहना
दुनिया बहती जैसे पिसना,
रोना हँसना जीना मरना
एकै शक्ति के भिन्न हैं बरना।

४

एकै कील की पसरी बाहें
चलत चक्र है दायें बायें,
कील की शक्ति दुइ भै निसरत
बायें जडवत् – दायें फिसरत।

५

बायें काल है दायें चेतन
बीच में मां का ऐसा नर्तन,
मध्य में माँ को कोउ न पावा
ब्रह्मानन्द फलै सब धावा।

६

निर्गुण कोई सगुण है पावा
बीच में मां कौन बतावा,
विशुद्धानन्द हैं इनके अंशज
हुआ न अब तक दूजा वंशज।

७

बाहर बुद्धि बहु रूप धरा के
भीतर नाम हिय दृष्टि परा के,
भूमि विलक्षण मध्य ड्योढी की
विरल शान्तमय परा अपरा के।

८

नहीं यह योग है शिवशक्ति परा के
नहीं वियोग यह जीव ब्रह्मा के,
शान्त, स्थिर नहि कुछ अनुभव है
जब हुआ बोध स्पन्द उद्भव है।

९

क्रम से जात लै इन्द्रिय सीढ़ी
पहुंच न पैहैं सातों पीढ़ी,
इन्द्रिय ओट कठिन बहु साधन
बहु जन्म लगाइ बहुत अराधन।

१०

क्षण धारणा अति विज्ञानी
पाय न सकै जीव अभिमानी,
तिरलोकी में दुर्लभ क्षण है
जेहि ते फुरत विश्व व कण है।

११

जगत न ज्ञानै न करौं ढिठाई
सत्य कहूं ना बात बनाई,
सत चित और अतीत अनन्दा
जगत में लाये विशुद्धानन्दा ।

१२

यह कारण हेतु है विश्वातीता
जिसके क्षोभ से विश्व प्रतीता,
जेहि से भूत भविष्य निकासा
जिन्हें न जानै काल प्रकाशा ।

१३

एकै केन्द्र है व्योम धरा के
पकड़ न पावैं बुद्धि लड़ा के,
नाम रूप बिच अनुभवातीता के
प्रेम मध्य बिन्दु राम सीता के ।

१४

क्षण का क्षोभ मृत्यु जनम है
क्षण का स्पन्द मेरा जीवन है,
प्रसार संकोच स्पन्द में व्यापा
यौवन प्रसार संकोच बुढापा ।

१५

जगना सोना यह भी यही है
जीवन के नित व्यापार सभी है,
छिन छिन सांसों का आना जाना
जनम मरण का भरम मिटाना ।

१६

क्षण का प्रभाव है पूरा जीवन
जीवन में नित क्षण का नर्तन,
जीवन में क्षण ऐसा वरतें
जैसे प्याज की परत पर परतें ।

१७

आत्मा माया जीवहिं न्यारा
क्षण का कोई न द्रोही प्यारा,
क्षण में स्पन्द स्पन्द में क्षण है
क्षण ही में संहार सृजन है ।

१८

क्षण का विकास क्रमकाल कहावै
क्रम का शेष विशेष प्रकाश जतावै,
सब उदय अस्त का हेतु लपेटे
इच्छित-देश-काल सब भाव समेटे ।

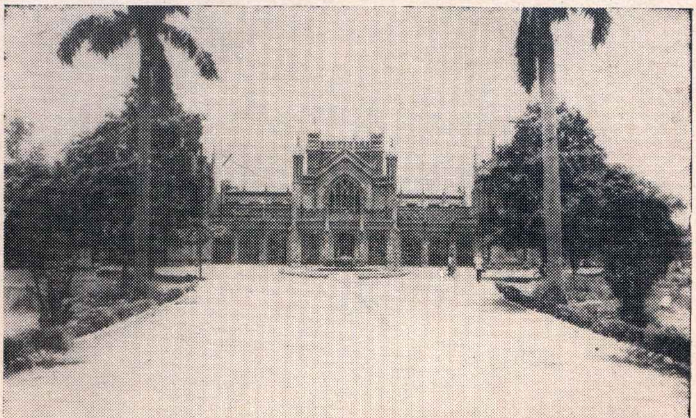
१९

क्षण का परिचय बोध न आवै
हेतु अहेतु का प्रभाव दिखावै,
प्रभाव पटल व साक्ष्य बुझावै
सूर्य विज्ञान की शक्ति कहावै

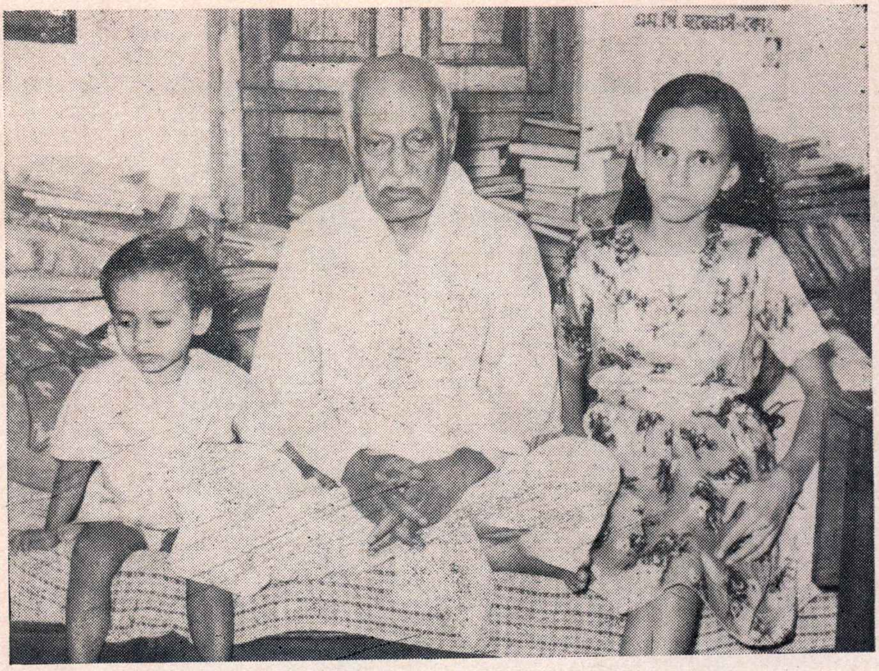
—जनार्दन प्रसाद श्रीवास्तव लखनऊ केन्द्र



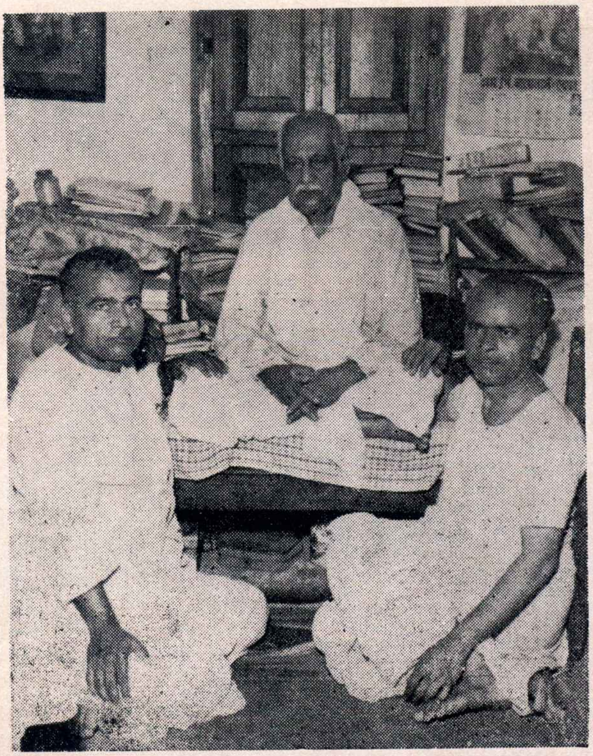
डा. गोपीनाथ जी कविराज



श्री कविराज जी की कर्मभूमि



श्री कविराज जी बच्चों के साथ



श्री कविराज जी अपने अध्ययन कक्ष में

मेरे संरक्षक और पथ प्रदर्शक—"बाबू जी"

—योगिराज दादा सीतारामजी

प्रातः स्मरणीय पूज्य चरण महातन्त्रयोगी पं० गोपीनाथ जी कविराज का ७ सितम्बर १६८६ को शतवार्षिक आविर्भाव दिवस, मेरे स्मृति पटल पर प्रकाशित कर रहा है सन् १६३५ का वह क्षण, जब मुझ अकिञ्चन को श्री चरणों में आश्रय मिला। इस मिलन के माध्यम थे, मेरे बहनोई पं० बद्रीनाथ जी त्रिपाठी, जो पूज्य कविराज जी से किञ्चित परिचित थे। श्री चरणों का आश्रय प्राप्त करने का वह क्षण मेरे जीवन का एक अदभुत् एवं परिवर्तनकारी क्षण बना। उनकी अजस्र करूणा द्वारा प्रवाहित स्रो त से मेरे जन्म-जन्मान्तरों को मरुस्थली में व्याप्त पिपासा, पुण्य सलिला भागीरथी सी निर्मल एवं प्रशान्त हो गयी।

पुण्यश्लोक श्री कविराज जी, जिन्हें मैं 'बाबूजी' कहा करता था, की कृपा से नित्यप्रति परमसिद्ध योगिराजाधिराज श्री श्री विशुद्धानन्द परमहंसदेव का दर्शन लाभ भी प्राप्त करता था। उन्हीं के साथ मलदहिया, वाराणसी स्थित विशुद्धानन्द कानन आश्रम में जाता और वहीं मुझको भी उनका आशीर्वाद प्राप्त होता था।

तीन वर्षों तक काशीधाम, कलकत्ता एवं पुरी आश्रम आदि सभी स्थलों पर मुझे पूज्य बाबूजी के साथ-साथ जाने का शुभ अवसर मिला और इस सहयात्रा में उनकी कृपा की अनुभूति के साथ ही उनकी अलौकिक योग विभूतियों तथा उनके विलक्षण ज्ञान को देखने व सुनने के अवसर भी मिले। जिस समय श्री श्री परमगुरुदेव श्री विशुद्धानन्द जी ने अपना शरीर संकोच किया, पूज्य कविराज जी के साथ कलकत्ता में उस महाप्रयाण के क्षण मैं भी उपस्थित था। यह एक मर्मस्पर्शी एवं हृदयद्रावक समय था। श्री कविराज जी की मनः स्थिति उस क्षण बड़ी विलक्षण थी। मैं बाबूजी के निकट था और जिस अवस्था में वे स्थित थे, उसका मुझे तीव्रतम अनुभव हो रहा था। पूज्य बाबूजी की इच्छा थी कि कार्य भार से मुक्त होने के पश्चात् उन्हें श्री गुरू सान्निध्य सतत् प्राप्त रहे, किन्तु कार्य भार से मुक्त होने के अल्पावधि में ही यह वियोग उनके लिए कितना कारुणिक था, यह अवर्णनीय है। उस स्थिति में भी अपने धैर्य और गाम्भीर्य को बनाए रखना उनकी विलक्षण स्थिति का द्योतक था।

सन् १६३७ से पूज्य श्रीचरण कविराज जी के साथ पुरी जाने का जो कार्यक्रम बना, वह कई वर्षों तक चलता रहा। प्रत्येक गर्मी में उनके साथ पुरी जाता, वहां दो-तीन मास रहता और पुनः कलकत्ता होते हुए काशी लौट आता। इस प्रवास काल में उनकी सभी प्रकार से सेबा करना और अपनी साधना में रत रहना, यही मेरी दिनचर्या थी।

देश के कोने-कोने से अनेक साधक, सिद्ध, तपस्वी और ज्ञानीजन महामनीषी श्री कविराज जी के पास आते थे और अपनी अनुभूतियों का वर्णन करते थे। यद्यपि मैं मात्र एक बालक ही था तथापि इस वार्तालाप में बैठकर इन महापुरुषों कीं वाणी सुनने का लाभ मिलता था। पूज्य कबिराज जी उन अनुभूतियों का विश्लेषण करते हुए जिज्ञासुओं को उचित उपदेश देते थे और उनकी अवस्था का विधिवत निरुपण भी कर दिया करते थे।

माँ आनन्दमयी संघ की अध्यक्षा पूज्यनीया गुरुप्रिया दीदी के रिस्ते में उनके एक काका कुंजबाबू, जो सन्यासी थे, पुरी समुद्र के किनारे एक कुटिया में रहते थे। पुरी समुद्र के किनारे मैं भी जाता और साधना करता था। यहाँ कुंज बाबू के साथ पूज्य कविराज जी की आध्यात्मिक वार्ता सुनने का अवसर मुझे नित्य मिलता था।

जगन्नाथ पुरी में ही एक किराये के मकान में रहते हुए श्री राम ठाकुर महाशय एवं अन्य महापुरुषों का न केवल दर्शन लाभ होता था अपितु पूज्य श्री कविराज जी से इन महापुरुषों का जो सतसंग होता था, उसे भी सुनने का सौभाग्य मुझे प्राप्त होता था।

इसी प्रवास काल में हमारी भाव साधना अर्थात् मानसिक पूजा का क्रम चलता था और मैं अपनी अनुभूतियां पूज्य बाबू जी को सुनाया करता था। उस पर वह मुझसे प्रश्न करते थे कि जिस समय तुम मानसिक पूजा करते हो तो उस समय यदि मान लो तुमने एक फूल का संकल्प लिया तो क्या एक प्रकार का ही फूल आता है ? मेरा उत्तर था-नहीं, मात्र संकल्प करने से बहुत प्रकार के रंग में रंगे फूल आते हैं। इस पर पूज्य चरण का कहना था कि जो तुम पूजा करते हो वह तुम्हारा यही शरीर करता है या अन्य कोई शरीर अनुभव में आता है ? मेरा जवाब था कि एक अन्य शरीर अनुभव में आता है किन्तु वह वर्तमान शरीर से आकार में छोटा और एक कौपीन धारण किए हुए दृष्टिगोचर होता है। यह क्रम चलता ही रहता था। रात्रि में प्रायः पूज्य बाबूजी मुझसे गूढ़ प्रश्न करते थे और सुप्तावस्था में भी यही वार्तालाप चलता रहता तथा मैं उनके प्रश्नों का उत्तर दिया करता। प्रातः वे मुझसे पुनः पूछते कि रात्रि में तुमसे जो मैंने प्रश्न किया था उससे तुम क्या समझे ? इस पर प्रकाश डालो। सुप्तावस्था में उनके प्रश्नों का जो उत्तर मैं दिया करता था, जागरण में वे प्रश्नोत्तर मुझे याद रहा करते थे। उनके पूछने पर जब मैं इन्हें दुहरा दिया करता था तो वे बहुत प्रसन्न होते थे।

उन्हीं दिनों की बात है, पुरी का रथयात्रा पर्व समाप्त हो चुका था और हमलोग कुछ ही दिन बाद काशी लौटने वाले थे कि एक घटना घटी। हमारे कुछ कपड़े बन्दर उठा ले गये, रोटी का प्रलोभन देने पर भी उन्होंने कपड़ा नहीं छोड़ा और उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले। हम दूसरी मंजिल में रहते थे, नौकर और रसोइया का निवास तथा पाकशाला नीचे की मंजिल में थी। घटना के दूसरे दिन भोजनोपरान्त जब पूज्य बाबूजी ऊपर चले गये, मेरे अन्दर भाव आया कि आंगन से संलग्न जो दीवाल है, उसे पारकर दूसरी ओर से कुछ पत्थर ले आएँ और बन्दरों को

मारें। जैसे ही मैंने उस पार छलांग लगायी, पेड़ों के झुरमुट तले रक्खी हुई एक फूटी बोतल के टुकड़ों पर मेरा पैर पड़ा और एडी में १ इंच गहरा घाव हो गया। बुधिया नामक उडिया नौकर का सहारा लेकर मैं आंगन के इस पार आया। मैंने घाव पर कपड़ा बांधा और रिक्शे पर बैठकर दवाखाने गया। मुझे मर्मान्तिक पीड़ा हो रही थी। कम्पाउन्डर से ड्रेसिंग कराकर वापस लौटते ही पूज्य बाबूजी ने जैसे ही मुझे देखा तत्काल पूछा कि क्या हुआ ? मैं इतनी देर तक कहां रहा ? मैने उन्हें सारी बातें बतलायीं। चूंकि मैं चलने-फिरने से लाचार था अतः काशी जाने का कार्यक्रम स्थगित हो गया।

इस घटना से पुरी का प्रवास काल बढ़ गया था, इससे मुझे श्री जगन्नाथजी के श्रावण झूलन यात्रा को देखने का सुअवसर मिला। इसी बीच एक सज्जन से मुझे बंगला सीखने को मिली। विस्तर पर पड़े-पड़े ही मैंने बंगला भाषा का लिखना और पढ़ना सीखा। विस्तर पर विश्राम करते करते मैं अब थक सा गया था। पूज्य बाबूजी जिस प्रकार प्रातः सायं की नियमित पूजा करते थे, उसी भांति रात्रि की पूजा से भी वे ९ बजे निवृत्त होते थे। उनके इस समयवद्ध चर्या से मैंने एक लाभ लेने की सोची। एक दिन पास ही के एक सिनेमा घर में मैं लंगड़ाते हुए सिनेमा देखने चला गया। मैंने सोचा कि पूज्य बाबूजी ९ बजे रात्रि में जबतक पूजा से उठेंगे, मैं वापस लौट आऊँगा। पूज्य बाबूजी को सिनेमा देखना तथा उपन्यास पढ़ना कतई पसन्द नहीं था। उस दिन मेरे दुर्भाग्य से वे पूजा से जल्दी ही उठ गये और नौकर से मेरे बाबत पूछा। इस सूचना पर कि मैं सिनेमा देखने गया हूं, पूज्य बाबूजी बहुत ही नाराज हुए। उन्होंने नौकर को १ रुपया देते हुए कहा कि जाओ टिकट खरीदकर उन्हें सिनेमा से बुला लाओ। नौकर मध्यान्तरकाल तक यह सोचते हुए कि मैं बाहर तो निकलूंगा ही, वाहर ही खड़ा रहा। जब मध्यान्तर में मैं बाहर निकला तो नौकर ने मुझे रुपया दिखाते हुए पूज्य बाबूजी का तत्काल वापस चलने का संदेश दिया। मैंने उससे रुपया ले लिया और पुनः यह सोचते हुए सिनेमा हाल में चला गया कि अब मैं नौकर की पकड़ से वाहर हूं। निश्चिन्त होकर मैं सिनेमा देख ही रहा था कि उतने में ही नौकर की सहायता से पूज्य बाबूजी स्वयं सिनेमा हाल में चले आये और मुझसे तुरन्त वापस चलने को कहा। मैंने उनसे निवेदन किया कि आप चलें, मैं थोड़ी देर में आ रहा हूं किन्तु उन्होंने मेरा हाथ पकड़कर डांटते हुए मुझे बाहर ले आये।

आज उस घटना का स्मरण करने पर लगता है कि उनकी मेरे ऊपर कितनी करुणा थी कि मैं जीवन के परम लक्ष्य से कहीं च्युत न हो जाऊँ, इस हेतु उन्होंने मां की तरह आजीवन मेरी रक्षा की और पिता की भाँति अनुशासन में मुझे सदैव रक्खा। पग-पग पर वे मुझे प्रकाश देते रहे और गति प्रदान करते रहे। जो प्रकाश इन महामनीषी से मुझे मिला वह निरपेक्ष और अलौकिक है तथा जीवन को आनन्द से भर देने वाला है। पूज्य बाबूजी का मेरे लिए अन्तिम निर्देश यही था कि–– "संसार दुःखी है। जो तुम अपने में अनुभव करते हो, जगत को दो"। पूज्य बाबूजी की कृपा से आप सभी आप्यायित हों, यही मेरी मंगल कामना है। 卐

अमृत वाणी

महामहोपाध्याय पंडित गोपीनाथ कविराज

पूर्ण योगी और पूर्ण सन्यासी अभिन्न हैं। उनमें कर्म और अकर्म एकाकार है अर्थात् जो फल की आकांक्षा नहीं रखता किन्तु कर्म करता है अथवा जो कर्म का त्याग नहीं करता अपितु फल का त्याग करता है। यही श्रेष्ठ आदर्श है।

o o o

जीवभाव की परीक्षा है, भगवत् भाव की परीक्षा नहीं – हो भी नहीं सकती। जिसको हम परीक्षा या विचार द्वारा समझ सकते हैं – वह भगवान नहीं। चाहे वह जितने बड़े हों जीवमात्र हैं। उनको पकड़ने का प्रधान साधन विश्वास ही है।

o o o

साधारणत: देखा जाता है कि श्वास-प्रश्वास की गति के प्रति हमलोगों का लक्ष्य नहीं रहता, किन्तु जब लक्ष्य रखने का अभ्यास किया जाय तब प्राण के साथ मन का योग होता है। यह योग प्राय: टूट जाता है। अभ्यास की दृढ़ता होने से इस प्रकार की एक अवस्था आती है जब यह यौग नहीं टूटता। तभी ठीक साक्षी अवस्था का एक आभास प्राप्त होता है। इसी आभास के साथ-साथ अन्तराकाश में प्रकाश खुलने लगता है। साथ ही साथ प्राण और अपान सामान होकर–श्वास-प्रश्वास धीमा होकर बन्द हो जाता है। नेत्र बन्द करने पर जो अन्धकार समझ में आता है–वह तब प्रकाशमय हो जाता है।

o o o

गुरू एक ही है। जिसके भीतर होकर वह प्रकाशित होते हैं वही उसके गुरू हैं। किसके भीतर होकर वह प्रकाशित होंगे यह कौन जानें ? यह जो मां हैं – मां के पास वह भाव लेकर कितने लोग जाते हैं ? मां तो किसी की गुरू नहीं होती अपितु वह रास्ता दिखा देती है, उस रास्ते पर चलकर अन्तर का मार्ग खुल जाता है। सामने हैं – नेत्रों के समक्ष परब्रह्म स्वरूप।

o o o

मात्र व्याकुलता से कुछ नहीं होता। उपाय की आवश्यकता है। 'गुरूरूपाय:' – यह है शिवसूत्र। गुरु उपाय हैं।

o o o

भक्त भगवान को अपना करके पकड़ कर रखते हैं इसलिए भगवान भी भक्त को अपना करके पकड़ कर रखते हैं। यह अत्यन्त दुर्लभ अवस्था है। प्रत्येक मनुष्य के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि साधारणतः मनुष्य के विषय में उनकी तटस्थ नीति है – पक्षपात शून्य समदृष्टि। साधारण मनुष्य कर्म प्रधान है अतः उसके कर्मानुसार भगवान उसको सुख-दुख रूप फल प्रदान करते हैं। भगवान का यह रूप न्याय का रूप है – प्रेम का रूप नहीं। अन्य मनुष्यों के साथ भगवान का सामाजिक सम्बन्ध रहता है – काल रूप वह सब पर शासन करते हैं। किन्तु भक्त के साथ उनका पारिवारिक सम्बन्ध है वहाँ कोई कानून व नियम नहीं चलता। भक्त सदा उन्हीं का चिन्तन करते हैं इसीलिए भगवान भी सर्वदा अनन्यचित्त भक्त के योगक्षेम का वहन करते हैं। यदि वास्तव में उनके प्रति किसी की अनन्य भक्ति उपजे तो वह आचारहीन होने पर भी साधुपद पर अधीष्ठित है। भगवान ही परम पुरुष हैं – सभी भूतप्राणी उनके ही अन्तस्थ एवं वही विश्वव्यापक सत्ता हैं। उनको अनन्यभक्ति के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, उनको अनन्त भाव में प्राप्त किया जाता है। गुरू वही हैं, मनुष्य उनका शिष्य है, पिता वही हैं, मनुष्य उनका पुत्र है, सखा वही हैं, मनुष्य उनका सखा है, प्रियतम वही हैं, मनुष्य उनका प्रिया है। वह ब्रह्म की प्रतिष्ठा हैं।

o o o

काम बिना दो के नहीं होता, प्रेम भी उसी तरह दो के बिना नही होता। काम में एक दूसरे के भोग करने की इच्छा करता है किन्तु प्रेम में एक दूसरे के प्रति आत्म समर्पण करने की इच्छा करता है। भोग के मार्ग में भेद और अनन्त विचित्रता की सृष्टि होती है किन्तु आत्म समर्पण के पथ में अनन्त विचित्रताओं का लोप होकर एक अद्वैत स्वरूप में स्थिति होती है।

o o o

गुरू में ईश्वर भावना करने का उपदेश शास्त्र में सर्वत्र है। इस प्रकार की भावना के फलस्वरूप मनुष्य-गुरू की सभी न्यूनताएँ व त्रुटियां अपगत होती हैं एवं वे साधक-शिष्य को स्पर्श नहीं कर पातीं। सिर्फ यही नहीं अपितु ईश्वर का दिव्यज्ञान मनुष्य-गुरु के अन्तर सञ्चारित होकर योग्य शिष्य को परमार्थ के पथ पर आकर्षण करके ले चलता है।

o o o

शिष्य यदि गुरू को जगद्गुरू रूप में विश्वास करे तो शिष्य की उन्नति का मार्ग अवरुद्ध नहीं होता। अनेक स्थान में गुरू के सिद्धिलाभ के पूर्व ही शिष्य सिद्धिलाभ कर लेता है। इसीलिए शास्त्रों में सर्वत्र गुरू को भगवान रूप में विश्वास करने की व्यवस्था दी गई है। गुरू अपने साधनबल से भगवत्ता न प्राप्त करने से भी शिष्य अपने विश्वास के प्रभाव से मुक्त हो जाता है।

o o o

गुरूराज्य की स्थापना के पश्चात् जगत के समस्त जोव क्रमशः तृप्ति, पूर्णता एवं परमानन्द लाभ करके गुरू के साथ तादात्म्य लाभ करेंगे। तब एक अखण्ड गुरू अनन्त खण्डवत् विभक्त सत्ता अपनी काया में धारण करके सभी के साथ अभिन्नरूप से प्रतिभासमान होंगे। तब सभी स्वयं में पूर्णता लाभ करके पूर्णता की उपलब्धि करेंगे एवं अनन्त वैचित्र्य एक एवं अखण्ड निज सत्ता का ही आनन्दमय अनन्त विलास रूप अनुभव करेंगे।

o o o

वोध का विकास न रहने की वजह ही चेतन पुरुष के प्रति आत्मलोप की अवस्था है। इसका एक मात्र उपाय है, चैतन्य के साथ युक्त होकर चेतन रहना। शिशुवत् सरलचित्त से 'मां' की पुकार करने पर मां उसकी रक्षा अवश्य ही करेंगी।

o o o

अखण्ड मां ठीक-ठीक व्रह्ममयी मां नहीं हैं। जो व्रह्ममयी मां हैं, वह शिव-शक्ति रूपा शिवानी–वह जीव और जगत की मां हैं। अखण्ड मां वास्तव में मात्र जीव और जगत की ही मां नहीं अपितु शिव की भी मां हैं। इसीलिए शिव परम शिव की अवस्था में ही उनको पहचान पाते हैं अथवा उनको पहचान पाने से ही शिव परमशिव में परिणित होते हैं उससे पहले नहीं। वह परम कुमारी–एक तथा अद्वितीय हैं।

o o o

पूर्णता प्राप्ति की दिशा में अग्रसर होने के लिए प्रथम 'जागरण' आवश्यक है। एकमात्र परमात्मा या परमेश्वर की अनुग्रह शक्ति का संञ्चार ही जीव को अनादि सुषुप्ति से जाग्रत कर सकता है। परमेश्वर की कृपा, सद्गुरू का उपदेश एवं व्यक्तिगत यथा-विधि साधना का अनुष्ठान– यह तीनों ही एक साथ मिलकर ऊर्द्धपथ के पथिक, जीव की सहायता करते हैं।

o o o

जब तक जगत में दुःख है, अभाव है, पाप ताप है, तब तक अपूर्णता विद्यमान है। जब तक आनन्द का आस्वादन है, तृप्ति का विलास है, लीला का उच्छवास है, तब तक एक प्रकार से अपूर्णता विद्यमान है। पूर्ण पूर्ण ही है। एक व्यक्ति के भी पूर्ण होने से पूर्णता का पथ उन्मुक्त हो जाता है और सबके पूर्ण होने से एक व्यक्ति की पूर्णता सिद्ध होती है। पूर्णता के टुकड़े नहीं होते। वस्तुतः अखण्ड पूर्णता ही परिपूर्णता है। यही महायोग है।

Cosmic Liberation

On the perusal of the history of mankind it would be observed that it is a continuous process of endeavour for freedom from miseries, scarcities and sufferings of all sorts. The great lights in human form of Budha, Socrates, Zoroaster, Jesus reveal to us the divine possibilities of human nature and be helpful in getting our swabhao or natural-self. Some of the significant features like incarnation, miracles and festival rejoicings are found in common. The rejoicings and festival celebrations of spring are symbol of renewal of life. It is an occasion of prayer and praise or thanks-giving. The Hindus celebrate as Holi. The Jews call it the jeast of Passover the deliverance from bondage, the divine dispensation of mercy and benevolence. For the Christians it is the Holy Easter symbolic of the resurrection of Jesus and his triumph over death

As the Christian Doctrine developed into Trinity, Budhism adopted the Trikaya or the threefold body, Dharm kaya is the unconditional spiritual reality, the essence of elightenment and compassion. Mahayan Budhism like Bhagwatgita makes out that Budhas appear on earth for the redemption of mankind "The exalted one appears in the world of Salvation to many people, for joy of many people out of compassion for the world, as a blessing, as a salvation as the joy of Gods and men."

According to Bhagvatgita, wherever there is a decline of righteousness and rise of unrighteousness, then I sendforth (incarnate) myself' This Divine activity will go on till the whole universe becomes one Divine Incarnation.

In fact, during the existence of mankind as pointed out in modern history for about 25000 years man has not changed the least. There is sorrow, melancholy, depression. anger fear all along prevaling in human life. Even the vast material and scientific knowledge accumulated during the last 150 years, man has not added to any substantlal gain except some physical comforts due to few scientific inventions, though equally dangerous for human peace. It has not at all helped in the transformation of man, but on the other hand frightened us with the threat of a nuclear war and subsequent destruction of millions on this earth.

We have grown in knowledge and intelligence, but not in wisdom and virtue. This absolute absence of virtue and wisdom is the main cause of our perpetual strife. No doubt, individual cases of salvation, Moksh or Mukti or deliverance from bondage are on record available in some of th religions prevalent in the world, but the concept of universal salvation had been a remote possibility till now, though saints like Prabhu Jagat Bandhu, Vama Kshepa and Mehar Baba etc. have casually mentioned about the supernatural powers residing in space working for salvation of mankind in toto.

This fact has now been well-established by Paramhans Vishudhanand, ths most famous saint of this century, who practised Yoga and learnt solar and lunar sciences for a period of twenty years in a secret place in space known as Gyanganj inhabited by yogis in Sidh-Deh or Etherial body. Though its wordly existence is beyond the reach of ordinary human beings, the place has been located and alleged to be situated somewhere between Tibbet in Himalyas. Paramhans ji wanted to establish a centre of solar science (Surya Vigyan) at his Vishudhanand Ashram in Varanasi, which could eliminate diseases and all misery from this universe but it was not destined, since the powers did not permit it. He, however, imparted this precious spiritual knowledge to Pt. Gopinath Kaviraj acknowledged as the most learned saint of this century, interpreter of Eastern and Western philosophy and an exponent of Tantrik literature, Agamas and Nigamas. Later on Kaviraj ji undertook three major austere penances for seventeen months each under the guidance and direction of his Satguru Paramhans Vishudhanand ji of Gurudham Gyanganj. During this period he was forbidden to use even air or water of this earth and remained all along connected with his Guru in etherial Body from Gyanganj.

The first phase of this Sadhna was the Sewa Karma or Kumari Sewa, which is still prevalent in some form or the other throughout the country. According to Agam shashtras Sapta Shati or Kumari Tattwa is the state of paramsthiti (original existence) from where this universe is born. Even after giving birth to this universe virginity of Kumari remains intact. This has also an association with Ancient Catholics 'Immaculate conception of Virgin Mary'. In ancient Shiva Sutra 'Ichha Shaktirupa Kumari' of the Supreme will of Kumari is the Kumari element in the shape of Jagatmata (Mother universe) Shri Shri UMA. This supreme existence of Kumari Satta is beyond KAL and MAHAKAL and is known as Sapta Shati. By this Supreme Kumari Sewa beyond KAL and MAHAKAL Satta Kaviraj ji could create universal mind without which the work of universal knowledge of Gyan and Bhava could not have been completed.

Kaviraj ji could successfully complete this Sadhna for universal salvation and got blessed with the supreme power (Maha shakti) for establishing the kingdom of God on earth, as it is now in Heaven. Then the last enemy, I. e. the Death or Mahakal will be conquered. Yogiraj Arvind also has foreseen this as a Divine Descent and termed this as Supramental Descent. Kaviraj ji has gone still further stage of transformation and named this as Solar Descent, Suryavataran or Akhand Mahayoga (Cosmic Communion with Indivisible cosmic Consciousness). The karma on behalf of the whole has been completed still the individuals role has to be performed for total accomplishment of transformation of man. The only work left is now a call of supreme MAA incessantly with child like simplicity only MAA without any adjective i. e. Kali, Durga, Lakshmi or Saraswati from all human beings irrespective of caste, creed or colour. The goal of human emancipation is not far off. 'Federation of mankind will have to utter MAA from all centres voluntarily for earlier inevitable Suryavataran for which this magnanimous work has been done by Paramhans ji. ★

Some Glimpses on the Life of M. M. Shri Gopinathji Kaviraj

—B. P. Tewari

From his very childhood Shri Gopinathjee Kaviraj had some inborn gifts of unfailing memory, astonishing aptitude for learning, deep regards for Indian tradition and culture. He had a taste for devotional songs and prayers. 'Tatwa Jigyasa' and 'Satsang' were his natural disposition. He was a seeker after truth and throughout his life persuade his search. The insatiable thirst for knowledge led him to explore the genesis of various fields of study-History, Philosophy, Religion, Art, Axiology and Culture. Though his primary interest was in the philosophies of Shaiva, Shakta, Yoga and Bauddha, he did also do proper justice to intricate problems of Sankhya, Nyaya Vaisheshika, Mimansa, Alankar and Vedanta. Besides, he was also an authority on Ancient Indian History and culture in different branches.

The undernoted three great spiritual personalities in whose contact he happened to come, excercised considerable influence in shaping his spiritual life.

1. Swami Shivaram Kinkar Yogatrayanand jee:

After completing his studies when 'Sri Kaviraj ji, settled down in Varanasi, he came in contact with this great Mahapurush, through his classical work 'Arya Shastra Pradeep', which he had read earlier. It was this work that convinced him that its author was not only proficient and master of Karma Bhakti, Gyan and Yoga alike but he was also well conversant with eastern and western philsophies and sciences both ancient and modern. On enquiry why it was so that when two realised souls tried to explain the reality their views varied, this Mahapurush replied that, that part of truth or existence which mind can comprehend is called an opinion or idea. So long as efforts are made to realise the one and indivisible truth through the instrumentality of mind there is no chance to get it. In order to get the indeterminate supreme truth mind has to be transcended. The essence of mind is ratiocination or alternative dispositions.

2. Tatsanghi Mahatma :

While conversing with this Mahapurush about the cycle of time or sansar and the problem of origin of mind he was given the following explanation :—

"Before creation mind resides at Shahashrar. As the creation starts, instant'y the mind descents with intense velocity and piercing through Chakras in different parts of the body finally reaches the Muladhar. In this descent there is nothing to obstruct the minds movement. Togather with mind follow words and ego. In the Muladhar the mind looses its initiative to move upwards again to Shahashrar for the simple reason that the moment which made the mind to move downwards has now passed away and the second moment in the form of resolve has crept in. That is why awakening of Kundalini for the second time is necessary. So long mind does not enter into the path of Shushumna, it rambles through Ida and Pingala and this rambling within the circle of time is called Sansar,

3. Yogirajadhiraja Swami Vishuddhanand Paramhans deo Jee.

The final phase of Shri Kavirajji's life commences with his meeting Shri Vishuddhananddeo Jee. It was through his mouth that he heard of Gyanganj and Surya-Vigyan. He was astonished to find his supernormal yogic power and had serious discussion with him about the principles and mechanism of Yoga. He was so much charmed by his luminous personality that he decided to become his desciple and got spiritually initiated by him on January 21, 1918.

The personal life of Mahamahopadhyaya was a living example of plain living and high thinking. The Great savant used to sit for Sadhana both at dawn and dusk regularly at fixed hours. He received a special grace from his spiritual preceptor by which the later was almost always immersed in contemplation and nothing could disturb his one pointed concentration.

In the later part of his life, many of his devotees noticed in him as if he were non-existant to the external world and lost in a state of Samadhi. His devotion to his spiritual Master was unstinted. This is evinced by the surrender of as much as half of his salary to his Guru every month.

Even in the middle of some serious elocution if one entered his room he easily become immersed in the ocean of his all absorbing eloquence which was always full to the brim. The Shastras were churned to submit the harvest of Jewels bristling with originality. The age old barrier between one system of thought and the other gave way and Vedas and Tantras coalesced. The atheists and theists appeared to embrace each other as bossom friends. The magnetic touch of Shri Kaviraj ji's genious transformed all differences into an indivisible whole.

There was also a remarkable distinction between his oral discourse and his written exposition. In oral transmission he was as much of an inspired person and took unflinching strides. He used to move with the extraordinary grace and delight from

Kashmir Shaivism to Tantrik Mysticism. It lifted the listeners mind to that trancendental plane which can be adequately expressed as profound silence.

Apart from so many notable books and articles which were authored by Shri Kaviraj ji, there are still too many articles written by him which are yet to see the light of the day. Each one of these articles possess the quality of a D. Lit thesis but Kaviraj ji was always unconcerned to these things and dismissed any idea of their publications saying that they were ment for his personal use alone.

He was the grand fusion of the old and the new. His versatality, his unassailable penetration, his flaming genious, his sympathetic approach has opened up a world perspective of philosophy in which modern science has been assigned its proper place.

The Akhand Mahayoga of Shri Kavirajji is not a speculative philosophy. This Yoga is more a matter of practice and realisation through Divya-Bodhe or Divine Intellect. This Yoga can be approached in two ways. Either through Vyasti approach or through Samasti approach The union of Akhand Mahayoga is not the union of the individual soul with God. It is an eternal unity of Samasti Jeeva or Total Humanity in time and space of the existing world. The union will be the centre of time. This is not for the individual liberation but for the descent of Mahashakti in this physical world.

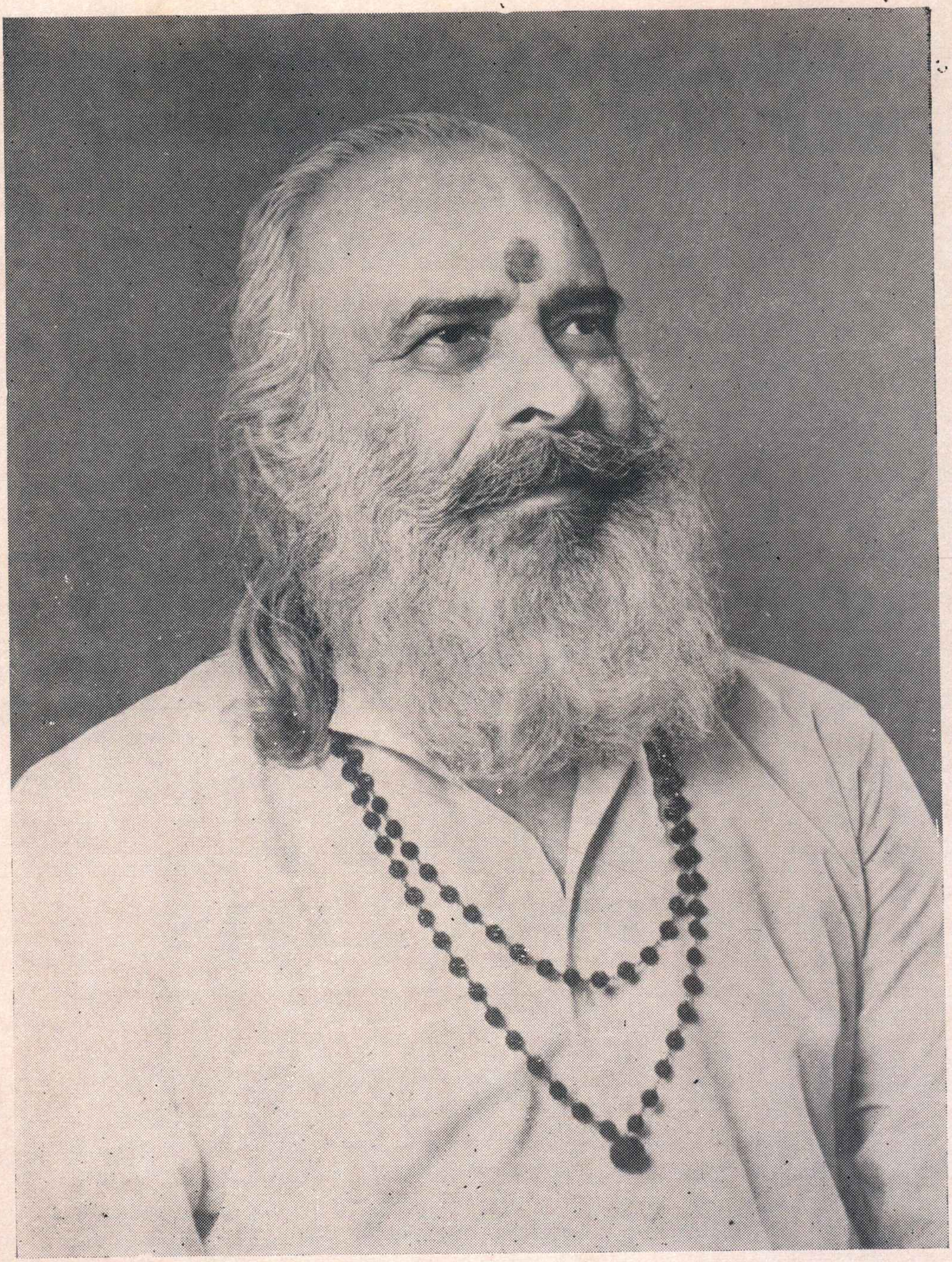
Extraordinary personalities like Shri Gopjnathji Kaviraj come to this world for a definite purpose to serve, mission to fulfil and from their very childhood they behave in a way which we ordinary people do not understand. Personalities like him are born with some rare traits that go beyond the limitations of Space, time and age. Their activities and spiritual achievements cannot be measured in a casual nexus.

On his centenary eve, we bow at his lotus feet and offer our obeisance. May he ever guide us in our Karma aimed at the fulfilment of the Mahasankalpa of an early divine descent to which he dedicated his whole life unflinchingly.

BLISS

There are four type of pleasures, all pleasures are not divina. We are aware of only mental pleasures i. e., Chitta Vratti. This is quite different from DIVINE BLISS. It is achieved when we delink chitta with its activities. The Dissolution of all thought process of the mind alone can give eternal pleasure.

—BABA



योगिराज दादा सीताराम जी महाराज

Yogiraj Dada Sitaram

and

Akhand Mahayoga

By S. K Ghoshal

The union of Akhand Mahayoga is not the union of the individual soul with God. It is an eternal unity of Samastijiva or total humanity with God in time and space of the existing world. This union will be the centre of time. The milan is called the illumination of Mahaprakash. Thisis not for the individual liberation or siddhi but for the descent of Mahashakti—divine illumination in this physical world.

The main principle of Akhand Mahayoga is that in its very soul creature is the same. From the ant to the elephant all of us have the same light (Chaitanya), the same soul. It is the firm view of Akhand Mahayoga that if one soul is to realise this divine light and be transformed, then all souls will realise it and be similarly transformed. If any one would become a truly realised soul then all will be realised souls provided they are inclined towards or in contact with a yogi like Paramhansa Vishuddhanand Deoji, Mahamanishi pt. Gopinath Jee or our present Master Yogiraj Dada Sita Ram Jee.

Our Master says that contact with him is enough Your love for me will pull you up and when the divine light or Gods grace comes you will be transformed. Our Master traces back this tradition to Prabhu Jagatbandhu, the Guru of Rabindranath Tagore's father which was later on adopted by pt. Gopinath Jee Kavirai and explained in the book "Akhand Mahayoga" written by him in 1956. And as because our Master acquired this Sadhana based on his personal experiences and thirty five years of association with pt. Gopinath Jee Kaviraj, he is now offering it to the mankind for the eradication of all sorts of miseries surrounding them in order that they find the taste of real bliss.

While Yogiraj Vishuddhanandjee Paramhansadeo, Kaviraj Ji and other Siddhas of the Gyanganj Gurumandal are preparing themselves for the descent of this divine light, it is not enough for the common man to simply wait until the first soul is realised so that he will also be realised. In our Master's view this complacency should be discouraged. His emphasis is on practicals. Says he - "When God's grace comes, when the divine light comes we will get it, but why should we not prepare ourselves also so that when this

light comes in our life time, we are all ready to hold. While I am ever busy in preparing this base in myself, those who remain in my contact I shall be preparing the same base in them also."

Our Master does believe that there is an immanent spiritual resuscitation in the world but it is not something that will fall upon us without our own preparation. The transformation of this mortal world from its pain and suffering depends upon the whole hearted cooperation of one and all. All of us individually will have to be Self-awakened in order to usher in the dawn of supreme enlightenment.

Our beloved Master's style of Guruship is both personal and practical. He considers the schools of Kashmir Shaivism and Tantric Philosophy to be important for him as they are best suited to the life of a householder. Revered Kavirajji led our Master to accept a householder's life in order that these philosophies truly became a part of his teachings.

Regarding Akhand Mahayoga Sadhana technique our Master says, "In this Yogic Sadhana one's profession or occupation will in no way be any hindrance. The two essential requisites are steadfastness of conduct and faith in the intrinsic truth of the path. Apart from this, one is free to lead one's life as he wishes.

Our holy Master provides not only personal understanding but has a practical method for solving serious personal problems. On this topic he says, "In this Sadhana the biggest thing is that a man will change from inside, not from outside." As a example to support this fact he quotes a desciple who was a liquor addict and became restless if he did not get a bout of drink every evening after eight. After coming to this Sadhana he gave up this habit. The Master never asked this desciple to give up drinking. It happened because in this Sadhana one gets so much joy that the joy of drinking becomes inferior by comparison. There cannot be any competition in this Sadhana.

On the role of Guru our Master says, "A Guru is one who shows the way to wards Self realization. A Guru shows the way—he carries. He is able to make one reach up towards the light of truth. He helps the desciple find their inner current. he Guru prepares a desciple the way a parent would raise a child."

According to him Goddess upon whom one should do Sadhana and with whom one should establish a relationship is MAA. She is only MAA—the attributeless MAA. In all the world the sweetest relation is that of a mother.

According to Gurudeo the divine Mother and Guru are one, and to bow at the feet of Guru is same as to bow at the feet of MAA.

Sri Gurudeo lays much emphasis on practical experience. He believes that the Guru is a guide towards Self-realisation, but not until the desciple experiences progress towards that realisation is he a proper Guru? He emphasises on results. He says that practical experience is the only source of true knowledge.

Shri Gurudeo's life has been greatly influenced by the lives of Swami Visuddhanandjee Paramhansa and Shri Kaviraj ji. Swami Visuddhanandjee's bold attempts to establish the Nav Mundi Ashan for the welfare of the world and Shri Kavirajji's constant devotion to the needs of those who came to him are all mirrored in our Masters action.

On initiation in Akhand Mahayoga Sadhana, Shri Gurudeo says that it is not only necessary that he receives inner instructions from the divine mother but that there should also be a strong curiousity or thirst on the part of the seeker.

He who is so dedicated to the cause of vanishing miseries afflicting mankind in this universe and who is ever engrossed in this Sadhana to enable an early descent of the divine light for the welfare of humanity as whole—we, his sons, offer our obeisance to his lotus feet. Remembering Shri Kaviraj Ji on this pious eve of his centenary celebration without a mention of our beloved Master would have been a half done task.

MAHASHAKTI

There is nothing else to the exclusion of a Mahashakti He who imparts knowledge about Mahashakti or is capable of showing this Shakti is the sadguru. A man can never be God. You are all children and that is why you become too impatient over trifling matters. The seed of knowledge will germinate from the task assigned to you and will ultimately drive you to a rediscovery in wisdom. On the subtle border of knowledge, except non-duality there would be no duality. The one indestructible consciousness is eternal. Contemplation on Mahashakti which is total consciousness of the cosmos raises confusion about the real nature of dualism.

In the Jeeva, this is Mahashakti existing in her own form. As honey and sweetness co-exist in the samething likewise there is no difference between you and me. Everything would be revealed through Karma. Peacelessness would vanish then, it cannot remain.

—Shri Shri Vishuddhanandjee

Attainment of Permanent Happiness

By R. B. Awasthi

There is a general wrong notion about happiness because while defacto it is a positive mental state, most of the people regard happiness to be absence of sorrow which is a negative state. To illustrate the positive state of happiness, let us consider the case of a man who is highly worried about money. If one day this man receives information that lottery of Rs. 50 lacs has been announced in his name, then the very moment this man hears of the above the mental disturbance in him momentarily subsides and he feels as if a current of happiness is passing through all his body. This is a positive state of happiness, but this condition will hardly last for ten seconds and the moment he begins to think as to how he wiil spend the money, the mental disturbance starts and the positive state of happiness vanis hes and will not be experienced by that man no matter how long he retains the money. From the above one can easily calculate that even in a hundred years of life lived with great wordly acquisitions a man hardly experiences the positive state of happiness for five minutes. All the wordly acquisitions and the circumstances highly favourable to him can only impart to him absence of sorrow,.....................which he may wrongly think to be the positive state of happiness. The striking point about happiness is that although the happiness appears to have been gained by acquisition of some wordly object, yet the happiness is a purely subjective phenomena and is not contained in the wordly objects. If defacto the happiness lied in the wordly objects, then a man can arrest the moment of experiencing it and would have prolonged it to any length of time, but this is not the fact as shown in the above cited example. Even with gigantic efforts the moments of experiencing positive happiness can not be prolonged.

It is a well established fact that by a man sleep is regarded more valuable than any wordly object. The reason for this is the fact that scientifically conducted experiments on the subject of sleep privation have shown that after about 60—90 hours of enfored wakefulness, the most prominent effects observed are "muscular weariness,..........irritability to the point of irascibility in normally even-tempred subjects, and a mental disorganization, leading to dreaming while awake, hallucinations and automatic behaviour occasionally bordering on temporary insanity" (N. Kleitman, "Sleep" in Encyclopaedia Britannica Vol. 2, P. 793)

Even a king cannot be happy if he does not have speep for some days. All the world may be given to a man but if sleep is denied to him, he will return the world and solicit sleep. An empire cannot give a man that happiness, the power which he may have over the world cannot give him that satisfaction which he has in deep sleep

although in deep sleep he is alone, unbefriended, unprotected, unseen, unrecogized, unpossessed of any thing. The stark reality is that in deepsleep when a man is alone he is extremly happy, but in the waking state when he is in the midst of many people he is agitated, vexed., worried and he complains about every thing. He makes no camplaints in deep sleep and also wants nothing. It is strange that when a man is fast asleep, he wants nothing he asks nothing, he does not want any body to even see him or speak to him, yet he is more happy from the time of waking when he might be an emperor and possessing every wordly object. The reason of the above happiness is that the consciousness of a man in deep sleep is at its source while in the waking state it is pulled apart from the source creating tension.

Regarding the real nature of a man the following inscription from the Mandukya Upanishad deserves deep contemplation :

"Your real nature is aloneness, not sociability. Your real nature is Kevalta, not Indriya-Samyoga with Visha-yas, objects. Your real nature is singularity, not multiplicity. Your real nature is total transcendence of all sensory and mental phenomena, not contact with objects. Therefore, you are Anandamaya, Anandabhuk : filled with bliss enjoying bliss".

Majority of the people wrongly think that aloneness and lonliness are synomy-nous words. However the fact is that both words have quite different meaning. Lonliness is isolation and this compels a man to face the onslought of his unfulfilled desires and suppressed emotions. It is due to this reason that nobody wants to remain lonely. A king of Egypt once porformed an experiment on a young man by giving him huge amount of money and keeping him in his palace lonely. There were no books nothing to get him occupied and no one was allowed to talk to him. Although the man was in the Royal Palace getting the royal food and royal comforts yet being lonely he became mad after one month. It is due to the above that a man dreads most the company of himself. If he is lonely for some time he will try to engage himself in some activity or the other like reading a book, listening to music etc. According to J. Krishnamurti loneliness, with its fear and ache is isolation, whether expansive or narrow, is productive of confusion, conflict, and sorrow. Regarding aloneness Shri J. Krishnamurti says that it is the purgation of all motives, of all pursuits of desire, of all ends. Aloneness is not an end product of the mind. One cannot wish to be alone. Such a wish is merely an escape from the pain of not being able to commune. Isola-tion can never give birth to aloneness, the one has to cease for the other to be. Aloneness is indivisible and loniness is seperation. That which is alone is pliable and so enduring only the alone can commune with that which is causeless, the emmeasurable. To be alone, life is eternal, to be alone there is no death. The alone can never cease to be. Thus in plain language a man can be said to be alone when his consciousness experiences itself without the intrusion of thoughts. In deep sleepstate a man is alone, he enjoys bliss, although in an unconscious state. If a man can remember what he experienced in deep sleep, he will never like to come back to this waking

world of multiplicity and also if consciousness were there in deep sleep he would not like to return to this waking world.

As we have observed in the above, in a state of aloneness one can enjoy permanent bliss. Regarding the procedure one has to follow to attain the above state and consequent permanent happiness, the fundamental thing which one has to consider is the fact that unless we discriminate and intelligently live almost all the twenty three and half hours of the day, we cannot expect to have even half an hour's meditative mood.

Regarding the above the first thing is to free the mind from the intruding thoughts. Such a mind is called no mind. Regarding this Yoga Vasista lays down :—

"Moment to moment engage the outgoing mind to live the present. Reject Completely the past. Renounce totally future. Then, in such a bossom the agitated mind shall reach the state of mindlessness".

Regarding the above Shri Aurobindo tells us to induce thoughts to come and go leaving no mark behind. As to how to observe the thoughts he further asks us "to look at the thought as not one's own, to stand back as witness, the thoughts are regarded as things comiug from outside, and they must be felt as if they were passers-by crossing the mind-space with whom one has no connection—and in whom one takes no interest."

The non-association with the rising thought disturbance is achieved by training ourselves to remain as a witness to the flood of happenings in ourselves. To be a mere on looker of the lusty parade of thoughts—in-revelry is to withraw from, thoughts theie ability to continue longer their inner caranival. As a Witess we remain in the present, without, being conditioned by the past associations or being enchanited away by the future expectations. This state, called the neutral condition of personality, is that which will grow in its sweep and depth to bring ultimately the experience of the thoughtless condition.

The important thing to note about the above work is that out of the entire time left at the disposal of the man after he has finished all the works, which are absolutely essential for the maintenance of his body he should devote two third of tfme for the above work. The golden rule is that the labour put in must be proportional to the benefits desired. After the above the time should be spent in reading such goods like Yoga Vasista, Vivekchuramani, Atma Bodh, Ashtavakra Geeta, Upnishads etc. which develop dispassion (Vairaigya) or internal detachment not outer rennunciation. The third thing which one has to do is to concentrate on the point at the right side of the Nabhi situated in the subtle body from which both the thoughts and breath arise. The result

of this will be that the breath will slow down and the intensity of thoughts will be reduced. After sufficient practice, by concentration at the above point the breath will at-most stop and consequently the thoughts will also stop.

Regarding the above state of aloneness or no mind state where a man experiences bliss or happiness permanently it is worth while pointing out that this state cannot be indefinitely enhanced, because in this state the body experiences a reduced state of metabolism and there is a limit to the length of time for which the body can sustain the reduced state of metabolism which accompanies the above state. The studies undertaken and reported by Wallace, Benson, and Wilson at Thorndyke Memorial Laboratory, Harvard, Medical School have shown that in a man in a state of deep meditation, Oxygen falls by 17%, the carbon dioxide and Oxygen partial pressures in arterial blood did not change significantly, so that the fall in oxygen consumption was not associated with either carbon dioxide retention or anoxia to any significant extent, blood lactate levels fell significantly hence anaerobic processes were apparently not involved, cardic out put fell by an average of 25% Calvanic skin resistance rose markedly by as much as 500% in some cases, the electro-encephalograph showed the presence of Alpharythm which increased in both regularity and amplitude.

Regarding the state when the conscousness of a man comes out to the life of activity from its state of rest and bliss the first point to be considered is that rhythmicity is a fundamental characteristic of living organisms. Every organ, every tissue, every cell seems to have its phases of activity and rest. For example, a nerve fibre, once stimulated, cannot carry a second impulse until a finite period of time has elapsed, a muscle fibre, like wise, will not respond to the second of two stimuli which reach it too close together. The second point is that even when a man comes out to the world of activity from the bliss state he retains to a sufficient extent the bliss which he has been enjoying. Hence even in the world of activity he is enjoying bliss. Thus he enjoys bliss permanently.

> The human body in fact is a subject of the whole universe. Taking the essence of everything that is above, bellow or in the middle this body has been constituted, Due to forgetfulness a man is not able to recognise his Real Self. Man is the universe also beyond it as the form of purse illumination. Further still he is both togather at the same time, for this precise reason, the unfoldment of Wholeness is possible in a MAN alone.
>
> **—Shri Kavirajjee**

Atma Kriya Yoga Sadhana

by Yogiraj Dada Sita Ram Ji

What is the highest goal of Man's existence ? Obviously self realisation is his supreme goal. The self is none other than Brahma. The Self or Atman is none other than Paramesvara ; Atman is the only Dharma i. e., the basis of virtue, morality, religion and good work worth knowing. Therefore the ultimate experience is the realisation of one's Self.

Bhagwan Mahavir in one of his sayings has said that Dharma is man's solitary island, his sole consecration and dynamic source of surrender in fhe turbulent consuming stream of inevitables viz. old age and death.

Man yearns exclusively for peace and pleasure but the five senses are so powerful that they forcefully abduct his mind & ensnare it in material and physical gratifications. Man expends his entire life seeking lasting peace and pleasure through the five senses of speech, contact, form, taste and smell. But the experience of that ultimate reality is possible only through Atma-Kriya-Yoga which alone can turn man's centrifugal consciousness centripetal.

I feel a spiritual resuscitation in the world is imminent. But it is entirely dependent on the wlole-hearted co-operation of one and all. It is not enough for us to remain mere spectatorsit, is imperative that each of us is Self-awakened.

Many of India's saints and Yogis have said the same thing and are deeply absorbed in man's spiritual salvation. All of us individually will have to be Self-awakened in order to usher in that dawn of supreme enlightenment.

The Akhanda Mahayoga Sansthan also, in its own way is dedicated to the task of seeing that every individual attains that state of bliss in the lifetime itself. The founder-organiser of this Sansthan has had the unique good fortune of receiving the divine grace of Yogiraja Shri Shri Vishudhananda Paramhansadevji. This Sansthan has for its chief source of inspiration the boundless blessing and grace of Mahatantra Yogi Mahamahopadhyaya Padma-Vibhushan Pandit Gopinath Kavirajji. Its main objective is to guide all those genuine seekers of Truth towards the path of Atma-Kriya-Yoga (the path of creative communion with the Self).

For the realisation of this i. e., experiencing of one's own being as an indivisible part of that Integral Cosmic Consciousness, four specific stages hava been set up in the Sadhana (Yogic training).

To be in the immediate presence of that Supreme reality, which is none other than one's Self (Atman) one has to transcend the three bodies physical, astral and mental (sthula-sukshma and karana shariras), the three states of lower consciousness of awkenedness, dream and deep sleep (jagrat, swapna and susupti), the three constituents or qualities of Prakriti of goodness, passion and inertia (the three gunas of satva, rajas and tamas), and the mind which includes both manas and buddhi, manas being the feeder of all information and buddhi acting as the selector.

The path set out by the Akhanda Mahayoga Sansthan* will enable the genuine seeker to rise above the three bodies, the three states, the three qualities, manas and buddhi and experience that Supreme Reality. It is the light of this Reality that illuminates all the three bodies. But it will not be possible to perceive that illuminator through the illumination just as it will be equally impossible to perceive the electric current in the incandescence of the lighted bulb

The only way open is to divest the mind of all thoughts and be in a state of creative alert and in thoughtlessness. In other words in a state of creative void to experience the full effulgence of one's true Self.

As stated earlier, the four different stages of Yogic Training are as follows :—

1. The Cognition of the Susumna :—

The Sadhaka, through the medium of his sadhana would be made to congnize the Susumna. His further advancement would be solidly based on this empirical cognition.

It is generally called Susumna-Nadi. Nadi in the ordinery sense means a nerve or artery but in yoga, it means a channel of energy. The susumna is the most important of all the channels of energy. It runs between the Ida and Pingala nadis and is in the hollow of the merudanda in the cerbro spinal axis, in the form of fire (Vanhi-Swaroopa) ; it has within it, in the Vajrini-Nadi ; in the form of sun (Surya Swaroopa) which in turn contains the Chitrini Nadi, also called the Brahma Nadi in the form of the moon (Chandra Swaroopa). Susumna is thus triguna or tri-constituent.

2. The process of moving the Susumna from the Manipura Chakra to the thousand petalled lotus (Saharara Padma).

The imparting of the technique for empirical observation of the subtle movement of the Susumna from the nabhi (in the region of the naval) to the thousand petalled lotus and remaining established in that state.

---

*Akhanda means cosmic, universal, integral and whole. Mahayoga is the cosmic communion with indivisible Cosmic Consciousness (Akhand Mahachaitanya) Sansthan a get-together of those individuals who wish to share this ineffable experience of that infinite Divine Radiation.

3. The dissolution of all thought-process of the mind. Imparting of the art and technique of extirpation of the thought-process.

4. To actuate the perception of one's Integral Consciousness in each and every sadhaka.

Are you not thirsting for the experience of that Divine Light which alone is capable of filling your life with unsullied happiness ? If you are, I heartily invite you to share its magnificent splendour and ecstacy. In this Yogic sadhana, one's profession or any occupation will in no way be of hindrance. The two essential requisites are steadfastness of condut and faith in the intrinsic truth of the path. Apart from this, one is free to lead one's life as one wishes.

The Brahma Path

The middle path is the only Brahma path. All other paths are anti-paths in the sense that they lead to sensuousness. In the middle path the channel of energy flows upwards. The same energy which via sense organs is flowing outwards with the awakening of Chit-Shakti. becomes one pointed or intensified at a particular point and then taking a descent in the mid-current of the Chit becomes one with it. As the secred fire, in association with the oblations poured into it, becomes more infflamable, in the like manner the fire of the chit dwelling in the middle of the body, with the support of the senses, gets more illumined and takes an invincible form. This channel of the ascent of the energy in due course joins the infinite ocean of the chit, and loses entity there.

The energy of the Brahma is ever on play in the middle path. In the paths on the right and left, the channels of the vasna's flow. The energy of the Brahma travels inward where as the vasana's travel out wards. One is the attraction of the higher, while the other signifies the attraction towards the lower level. The role of the Guru is to enable the Jeeva, drawn to his lower self with inferior motives to join the higher channel, hitherto been attracted to his lower faculties. The energy's role will be performed by the energy itself and this in natural. The Guru only ensures communion with Swabhao.

—BABA VISHUDDHANANDJI

अन्तिम लक्ष्य नहीं है

पथ का अन्तिम लक्ष्य नहीं है सिंहासन चढ़ते जाना ।
सब समाज को लिये साथ में, आगे है बढ़ते जाना ।।
इतना आगे इतना आगे, जिसका कोई छोर नहीं.
जहां पूर्णता मर्यादा हो, सीमाओं की डोर नहीं,
सभी दिशाएं मिल जाती हैं, उस अनन्त नभ को पाना ।।
पथ का अन्तिम लक्ष्य नहीं है . . .
छोटे–मोटे फल को पाने, यह न परिश्रम सारा है,
देश धर्म हित सभी समर्पण ऐसा ध्येय हमारा है ।
सफल राष्ट्र का अनुपम वैभव, सभी भांति से है लाना ।।
पथ का अन्तिम लक्ष्य नहीं है . . .
वैभव तबही सच्चा समझें, सब सुख पाये लोक सभी,
बाधाओं, भय, कुंठाओं से, मुक्त धरा गत–शोक सभी,
गुण की पूजा न्याय व्यवस्था, निखिल विश्व में सरसाना ।।
पथ का अन्तिम लक्ष्य नहीं है . . .
इन महान उद्देश्य प्राप्त हित, लगे भले जीवन सारा,
एक जन्म क्या बार–बार ही, इसी हेतु जीवन–धारा,
जियें इसी हित, और मृत्यु को, इसी हेतु है अपनाना ।।
पथ का अन्तिम लक्ष्य नहीं है . . .

श्री बहादुर साहू
द्वारा मे० बेयरिंग घर, वाराणसी

सब्बरवाल प्रिंटिंग प्रेस, न्यू मार्केट, कैसरबाग, लखनऊ (फोन ४८७६५)